गांधीवादी योजना

भूमिका लेखक :

महात्मा गांधी

लेखक

श्रीमन्नारायण अग्रवाल

प्रिंसिपल, गोविन्दराम सेकसरिया कॉमर्स कॉलिज, वर्धा

अनुवादक :

भगवतशरण अधौलिया

वाइस प्रिंसिपल, गोविन्दराम सेकसरिया कॉमर्स कॉलिज, वर्धा

प्रकाशक :

शिवलाल अग्रवाल एन्ड कं० लि०,

आगरा।

भूमिका

आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल उन नवयुवकों में से हैं जिन्होंने एक समृद्धिपूर्ण, एवं प्रतिभावान जीवन को मातृभूमि की सेवा के लिये उत्सर्ग कर दिया है। इसके अलावा, उनकी उस जीवन-शैली से पूर्ण सहानुभूति है जो मेरी 'साधना' है। यह पुस्तिका उसको आधुनिक राजनीति-शास्त्र के शब्दों में समझाने का एक प्रयत्न है। आचार्य अग्रवाल ने इस विषय के आधुनिक साहित्य का लगनपूर्वक अध्ययन किया मालूम होता है। मुझे खेद के साथ कहना पड़ता है कि मैं इस पुस्तक को उस ध्यान के साथ नहीं देख पाया हूँ जो इसे मिलना चाहिये। तिस पर भी मैंने इसको इतना पढ़ लिया है कि मैं यह कह सकता हूँ कि उन्होंने किसी भी स्थान पर मेरे विचारों को ग़लत रूप नहीं दिया है। चरखा-अर्थशास्त्र के अनेक अर्थों की निःशेष अभिव्यक्ति का इसमें कोई दावा नहीं है। यह अहिंसा पर आधारित चरखा-अर्थशास्त्र का उस औद्योगिक अर्थशास्त्र के साथ तुलनात्मक अध्ययन है, जिसको लाभदायक होने के लिये हिंसा, यानी, अनौद्योगिक देशों के शोषण पर आश्रित होना पड़ेगा। ग्रन्थकार के तर्क का मुझे पहले से ही संकेत नहीं करना चाहिये। देश की गिरी हुई हालत को अध्ययन करने वाले प्रत्येक विद्यार्थी से मैं इस पुस्तक को अध्ययन करने की शिफारिस करता हूँ।

सेवाग्राम
१६-१०-'४४

मो० क० गांधी

विषय-सूची

भूमिका—महात्मा गाँधी

प्रथम भाग

१—प्रथम खण्ड	...	१–४
२—योजना के सिद्धान्त	....	१–६
३—गाँधी-योजना ही क्यों ?	....	७–२०
४—गाँधी अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्त	....	२१–४२
५—ग्राम समुदायवाद	...	४३–७८

द्वितीय भाग

६—आर्थिक योजना	....	११३–१२२
७—कृषि	...	१२३–१३६
८—कृषि के सहायक उद्योग धन्धे	...	१३७–१४१
९—घरेलू उद्योग धन्धे	...	१४२–१५०
१०—बुनियादी धन्धे	....	१५१–१५४
११—सार्वजनिक उपयोगी काम	....	१५५–१७२
१२—व्यापार और वितरण	...	७९–८५
१३—श्रमिकों की भलाई	...	८६–८७
१४—आबादी की समस्या	....	८८–८९
१५—राजस्व, कर-निर्धारण और करेंसी	....	९०–९४
१६—शासन-प्रबन्ध	...	९५–९६
१७—बजट—आय-व्यय का ब्यौरा	....	९७–११२
१८—उपसंहार	....	११३

प्रथम खण्ड

१

भूमिका

सरकारी 'अ-हस्तक्षेप नीति' के अन्त के साथ आर्थिक योजनाओं को सब देशों में विशेष महत्व मिला है। विगत महा समर के पहिले, ये योजनायें राष्ट्रीय जीवन को केवल—श्रमिकों की भलाई, घरों की रचना और बेकारी, जैसी थोडी-सी बातों में ही स्पर्श करती थीं। लेकिन "युद्धोत्तर-काल मे आयोजित अर्थ-व्यवस्था" राष्ट्रीय जीवन के प्रायः समस्त पहलुओं को शामिल करते हुए, कहीं अधिक व्यापक बन गई है। सोवियट रूस की पंच-वर्षीय योजना इस क्षेत्र में सर्वप्रथम थी और उसने संसार भर में योजनाओं के लिये एक रिवाज डाल दिया। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने 'भयंकर मन्दी' से पार पाने के लिये अमरीका मे 'नव-व्यवस्था' की शुरूआत की। हिटलर ने जर्मनी को खास कर वर्तमान् महायुद्ध के निमित्त तैयार करने के लिये अपनी चतुर्वर्षीय योजना चलाई। इस क्षेत्र मे इङ्गलैंड थोड़ा पीछे था और खण्डरूप और अव्यवस्थित योजनाओं से सन्तोष मानता रहा; किन्तु हाल की सामाजिक सुरक्षा की बेवरिज-योजना इस दिशा में एक सुगठित प्रयत्न है।

भारत मे सर म० विश्वेश्वरैया पाश्चात्य ढंग पर आर्थिक

योजना के कार्य को हाथ में लेने वाले शायद सब से पहिले व्यक्ति थे। तथापि भारत के आर्थिक विकास के लिये एक व्यवस्थित एवं व्यापक योजना का विस्तृत मसौदा तैयार करने का श्रेय भारत की राष्ट्रीय महासभा द्वारा नियुक्त राष्ट्रीय योजना समिति को ही है। दुर्भाग्यवश, इसके कार्य में जिन परिस्थितियो द्वारा बाधा पड़ी वे हम सभी को सुविदित हैं। गहरी कटुता और निराशा के वर्तमान् वातावरण से जनता का ध्यान हटाने के उद्देश्य से भारत सरकार ने भारत के भविष्य की योजना बनाने के लिये युद्धोत्तर पुनर्रचना समतियाँ स्थापित की हैं। लेकिन इन सरकारी समतियो के बारे में जितना थोडा कहा जाय उतना ही अच्छा है। इसके अतिरिक्त मेरा विश्वास है कि दिल्ली शीघ्रता के साथ ब्रिटेन के लिये योजना बनाने में लगी है, भारत के लिये नहीं। इंगलैण्ड की 'आम सभा' में हुई हाल की भारत-सम्बन्धी बहस इस आम विश्वास मे शक की गुञ्जाइश नहीं रहने देती कि भारत सरकार द्वारा निकाली गई इन आर्थिक योजनाओ का उद्देश्य केवल भारत की आज़ादी के मौलिक प्रश्न को पीछे ढकेलना और स्थगित कर देना है। ऐसे समय मे जब कि हिन्दुस्थान की राष्ट्रीयता की आवाज़ दबायी जा रही है और उस का गला घोटा जा रहा है, आठ प्रसिद्ध उद्योगपतियों ने 'बम्बई-योजना' के नाम से आम तौर पर विख्यात आर्थिक विकास की पंचदश वर्षीय योजना प्रस्तुत करके निःसन्देह देश की एक निश्चित सेवा की है। हम इन योग्य और प्रमुख व्यवसायपतियों की सचाई और स्वदेश-प्रेम पर सन्देह नहीं कर सकते। तिस पर भी हम इस सत्य से अपनी आँखें नहीं मूँद सकते कि यह मुख्यतः पश्चिमी रीति पर बनी पूँजीवादी योजना है। मा० ना० रॉय ने भी एक 'जनता की

योजना'× प्रकाशित की है जो १० साल में कुल १५,००० करोड़ रुपये खर्च करने की बात सोचती है।

लेकिन मैं महसूस करता हूँ कि इन योजनाओं ने उन विशिष्ट सांस्कृतिक और समाज विज्ञान-सम्बन्धी-आधारों पर विचार नहीं किया है जिन पर भारत में हमारी आर्थिक योजना को आश्रित होना ही चाहिये। पूँजीवादी या साम्यवादी किसी भी प्रकार की पश्चिमीय योजनाओं की नकल भर करने से काम नहीं चलेगा। हम को ऐसी स्वदेशी योजना का आविर्भाव करना होगा जिसकी जड़ें भारतभूमि मे दृढ़ता के साथ जमी हों। सुसंगठित और शक्तिशाली ग्राम-मंडल स्मरणातीत काल से भारत का प्रख्यात विशेष लक्षण रहा है। इन मंडलों ने इस देश में जिस सामाजिक-आर्थिक संस्कृति को विकसित किया वह शायद संसार के इतिहास में बे जोड़ वस्तु रही है। इस का आधार घरेलू उद्योगवाद था जिसके अन्दर मानवहितवाद, समता, न्याय, शान्ति और सहयोग की भावना सम्मिलित थी। अतः यह आवश्यक है कि भारत को ऐसी अपनी निजी आर्थिक योजना का प्रादुर्भाव करना चाहिये जो पश्चिम का कोरा अनुकरण करने के बजाय अन्य देशो का मार्ग-प्रदर्शन भी कर सके और इस प्रकार अन्त में संसार को एक "नई व्यवस्था" की पुनर्रचना में सहायता दे सके। महात्मा गाँधी प्राचीन भारतीय अर्थ-व्यवस्था के इन्ही आदर्शों पर गत दो दशाब्दियों से जोर देते रहे हैं और अब प्रख्यात पाश्चात्य विचारक भी उनके अर्थ सम्बन्धी विचारों का समर्थन कर रहे हैं। चूँकि मुझे केवल गांधी जी के लेखों के अध्ययन करने का ही नहीं, बल्कि भारत के अनेक आर्थिक प्रश्नों पर व्यक्तिगत रूप से उनके

× Peoples' Plan by M. N. Roy.

साथ विचार-विमर्श करने का भी अवसर मिला है, मैं पश्चिम के ख्याति-प्राप्त अर्थशास्त्रियों और समाज-विज्ञान-वेत्ताओं के प्रमाण देते हुए महात्माजी के विचारो को सुव्यवस्थित रूप मे जनता के सामने रखने का साहस कर रहा हूँ। गाँधीजी ने भारत के आर्थिक प्रश्नो पर ,खूब लिखा है; किन्तु वे पुराने और रूढ़ शब्दो और पदों का प्रयोग करने वाले कट्टरपंथी अर्थशास्त्री नहीं है। उनके विचार उन गहरे मानोभावो और भावनाओ से अनुप्राणित है जिनका रूखी आर्थिक दलीलों में कोई स्थान नहीं माना जाता है। तथापि हम उनके लेखों में आसानी से ऐसी आर्थिक व्यवस्था का आभास पा सकते हैं जो प्राचीन भारतीय परम्पराओ पर स्थित है और जो यदि विस्तारतः कार्यान्वित की जाय तो युद्ध-जर्जर संसार को लड़ाई, शोषण और संहार के बजाय शान्ति, सुरक्षा और समुन्नति की वास्तव मे एक स्वस्थ योजना दे सकेगी।

तथापि हमको क्षण भर के लिए भी यह भूल नहीं जाना चाहिये कि राजनीतिक स्वतंत्रता के बिना सारी योजनायें निरर्थक सिद्ध होकर रहेंगी। आर्थिक पुनर्रचना की किसी भी योजना का पहिला मूल तत्व स्वाधीन भारत होना चाहिये। यह पुस्तिका गाँधीजी के अर्थसम्बन्धी विचारो को—इन प्रश्नों पर एक ऐसे समय में, सच्चे और विधायक विचारों को प्रेरित करने के लिये—वैज्ञानिक ढंग से उपस्थित करने का एक विनम्र प्रयास है, जब कि युद्धोत्तर पुनर्निमाण की दूसरी योजनायें बनाई जा रही हैं। जो गम्भीर अध्ययन और विचार का विषय बन रहीं है, यदि मैं उन लोगों के लिये, जो हृदय से भारत का कल्याण चाहते हैं, विचार और अध्ययन की नई सामग्री प्रस्तुत करने में सफल हो सका तो इस पुस्तिका को तैयार करने का मेरा परिश्रम पर्याप्त रूप मे सफल हुआ समझा जायगा।

२

योजना के सिद्धान्त

अनेक योजनाओं, तरकीबों और पुनर्निमाण की युक्तियों की बाढ़ में, हम को यह मौलिक विचार भूल नहीं जाना है कि योजना स्वयं साध्य नहीं किन्तु साधन मात्र है। विज्ञापित दवाओ की तरह प्रत्येक योजना सर्वोत्तम होने का दम भरती है, और लौकिक धारणा की प्रवृत्ति ऐसी होती है कि वह ऐसी योजनाओं को हमारे सारे आर्थिक कष्टों को दूर करने की सामर्थ्य रखने वाली चमत्कारिक शक्ति से वेष्टित कर देती है। योजना बनाना निःसन्देह कोई खराब बात नहीं है, प्रत्युत यह वस्तु-दृष्टि और बुद्धिमत्ता का परिचायक है। किन्तु जब पेचीदा और शानदार योजनायें शोषण के चाल भरे और भद्दे रूपों को ढकने के लिये चोगों के तौर पर काम में लाई जातीं है तो हम उन्हे सन्देह और सतर्कता की दृष्टि से देखे बिना नहीं रह सकते।

अतः खाली योजनायें ही हमारी जटिल समस्याओं को हल नहीं कर देंगी और न वे संसार को अच्छा ही बना देंगी। यह सब उस लक्ष्य पर आश्रित है जिस को प्राप्त करने का कोई योजना दावा करती है। योजनाओं को लोगों के जीवन-मान को उठाने मे—चाहे वह व्यक्ति की स्वतंत्रता को खोकर ही क्यों न हो—काफी सफलता मिल सकती है, जैसा कि रूस में। फिर जैसा कि नात्सी जर्मनी में हुआ है, जनसाधारण की क्रूर पल्टन-बन्दी के द्वारा एक बड़ी युद्ध-सम्बन्धी अर्थ-व्यवस्था को जल्दी से जल्दी खड़ा करके योजना रोजगारी की हालतों को सुधार

सकती है। अमरीकी 'नई तरकीब' एक अल्पकालिक झंझावात से सकुशल पार होने में अथवा राष्ट्र के आर्थिक जीवन की अस्थायी अव्यवस्था के दोषों को शान्त करने में एक आवरण के रूप में प्रयोग का काम दे सकती है। बेवरिज योजना उपनिवेशों और अधिकृत देशों के अधिकतर शोषण द्वारा अँग्रेजों को बेहतर सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने में सफल हो सकती है। योजना एक बड़ी मशीन के समान है; वह भलाई या बुराई दोनों के लिये काम में लाई जा सकती है। इस लिये योजना के जो सार तत्त्व हैं वे उसके लक्ष्य, भावना और उद्देश्य हैं।

तब फिर आर्थिक योजनाओं का प्रधान ध्येय क्या होना चाहिये? केवल यह कहना काफी नहीं है कि हमारा उद्देश्य 'जीवन-मान को ऊँचा उठाना' या 'अधिकतर समृद्धि बनाना' है। बम्बई-योजना का अभिप्राय "पन्द्रह वर्ष की अवधि में वर्तमान् 'फी कस' आमदनी को दुगुनी कर देना है।" लेकिन यदि वर्तमान् वितरण-विधान के अन्तर्गत जनसाधारण के अर्थ मे ऐसा कर देना सम्भव हो तो भी औसत आमदनी का द्विगुणीकरण मात्र स्वतः पर्याप्त रूस से अभीष्ट लक्ष्य नहीं है। आर्थिक मूल्यों को जीवन के मानवीय और सांस्कृतिक मूल्यों से और अधिक अलग नहीं रक्खा जा सकता क्योंकि मनुष्य का जीवन केवल रोटी के लिये ही नही है। कांग्रेसी राष्ट्रीय योजना-समिति की भी यह राय है कि योजना में 'जीवन का मानवीय पहलू और उसके सांस्कृतिक और आध्यात्मिक मूल्य' शामिल होने चाहिये।

पश्चिम में, जहाँ अब जीवन-मान को और आगे बढ़ाना सम्भव नहीं है, योजना का उद्देश्य 'पूरा रोजगार' बताया जाता है। इसमें फिर एक दूषित चक्र का समावेश है, क्योंकि योजना

का साध्य नौकरी चाकरी नहीं हो सकती जब कि वह स्वयं एक साध्य के लिये साधन मात्र है। हमको यह भी बताया जाता है कि योजनाओं को देश के प्राकृतिक साधनों और जन-शक्ति को पूर्णतम रूप से काम में लाते हुए बढ़ी चढ़ी उत्पत्ति को अपना लक्ष्य बनाना चाहिये। लेकिन-बहुतायत के बीच गरीबी का अभिशाप, जो उत्पादन और उद्योगीकरण का प्रतिशोधात्मक न्याय है, इतना सुस्पष्ट है कि मुझे उसकी व्याख्या करने की जरूरत नहीं है।

तो फिर किस लक्ष्य को लेकर हमारी योजनायें बनें? प्रो० कोल चाहते है कि हम "उस एक ऐसे व्यवस्थित अर्थ-प्रबन्ध के रूप को ग्रहण करें जिसमें उत्पादन के प्राप्त साधन और आयों के विचार पूर्ण वितरण को अपने कार्य-व्यापार के निर्देशक सिद्धान्त मान लें, जिस से सार्वजनिक हित के अनुरूप उपभोग का माप ऊँचा हो।‡ अच्छी योजना की प्रो० हक्सले की कसौटी यह है कि "वह उस समाज को, जहाँ वह लागू की जाती है, निःस्वार्थ और उत्तरदायी स्त्री-पुरुषों के न्याय-युक्त, शान्तिपूर्ण, नैतिक और बौद्धिक प्रगतिशील समाज में परिणत करने में सहायक होगी या नहीं।"* 'जनता की योजना' के अनुसार "संयोजित अर्थ व्यवस्था का उद्देश्य जनता के परितोष के लिये तात्कालिक और आधार भूत आवश्यकताओं की पूर्ति करना होना चाहिये।" लेकिन इस सम्बन्ध में, मैं डॉ० सन यात-सेन के—राष्ट्रीयता, लोकतंत्र और जीवन-वृत्ति के 'जनता के तीन सिद्धान्तों' से अच्छी कोई चीज नहीं सोच सकता। हमारी योजना राष्ट्र की अपनी सभ्यता और संस्कृति के आधार पर

---

‡Principles of Economic Planning, p. 406

*Ends and Means, p. 32

स्थित होनी चाहिये और जीव-शरीर की भाँति इस की स्वाभाविक अभिवृद्धि होनी चाहिये। उसे सिर्फ छोटे चुने हुये वर्ग या समूह की नहीं, बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र की भलाई और सुख को बढ़ाना चाहिये। मेरे विचार से यह आर्थिक विकास की किसी भी योजना का प्रथम सिद्धान्त होना चाहिये। दूसरे, हमारी योजना का परिणाम जन-साधारण के सामाजिक, आर्थिक और राज-नैतिक जीवन की न्याय-संगत स्वतंत्रता को छीन कर उनकी अत्यधिक लामबन्दी नहीं होना चाहिये। हम को लोकशाही के लिये योजना बनानी चाहिये, एकसत्तात्मक शासन के लिये नहीं। किसी राष्ट्र पर एक कड़ी और लम्बी चौड़ी योजना लाद कर हम उसके जीवन-मान को ऊँचा करने में सफल हो सकते हैं; परन्तु यदि लोग अपनी आत्मा को अपनी स्व-राज्य और आज़ादी की भावना को खो बैठते हैं तो इस प्रकार की भौतिक समृद्धि किस काम की होगी? अतः आर्थिक योजनाओं को राजकीय नियन्त्रण और दबाव की कम से कम ज़रूरत पड़नी चाहिये। वह सरकार सब से अच्छी है जो कम से कम शासन करती है। मैं एक क़दम और आगे बढ़ता हूँ। योजना को सिर्फ लोकशाही की रक्षा ही नहीं करनी चाहिये, बल्कि उसे ज्यादा असली और टिकाऊ बना कर उसकी वृद्धि और तरक्की करनी चाहिये। इसके बाद भी भी हम को केवल अपने ही देश में लोकशाही को सुरक्षित और समृद्ध बनाने में ही सावधान नहीं रहना चाहिये, बल्कि दूसरे पिछड़े हुये देशों की जनसत्ता और आज़ादी का हरण न करने के लिये भी होशियार रहना चाहिये। जैसा कि प्रो० रॉबिन्स अपनी 'आर्थिक योजना और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था' में संकेत करते हैं,—"अपने स्वकीय राष्ट्र के प्रति अतीव उत्साह के कारण इस अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि का हर्गिज़

त्याग नहीं कर देना चाहिये, क्योंकि दूर देशों की लोकशाही का नाश अपरिहार्य रूप से घर की लोकशाही को भी छीन लेने की तरफ झुकता है।"

हम को याद रखना चाहिये कि आर्थिक समानता के बिना राजनैतिक लोकशाही असम्भव है। प्रो० लास्की कहते हैं कि "राजनैतिक समता तब तक कभी वास्तविक नहीं हो सकती जब तक कि वह वस्तुतः आर्थिक समानता को लिये हुये न हो।" "अन्यथा राजनीतिक शक्ति को आर्थिक ताक़त की दासी बनना पड़ेगा।"‡ यही कारण है कि पूँजीवाद और लोकशाही असंगत हैं, क्योंकि पूँजीवादी समाज मे 'सम्पन्नों' और 'अकिंचनों' के बीच एक गहरी खाई मुँह बाये खड़ी रहती है। फलतः राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की एक ठोस पद्धति को भिन्न-भिन्न आदमियों की आमदनियों में बड़ी विषमता नहीं आने देनी चाहिये; नहीं तो देर या सबेर उस लोकतंत्र को धनिकतंत्र या स्वल्प-जन-तंत्र को स्थान देना पड़ेगा।

योजना का तीसरा सिद्धान्त यह होना चाहिये कि देश का प्रत्येक नागरिक न्यायपूर्ण और सम्मानित साधनों के द्वारा अपनी आजीविका कमाने का अधिकारी है। हरएक नागरिक को काम करने और अपनी ईमानदारी की मेहनत की उत्तम कमाई को हासिल करने का एक अभिन्न हक़ है। हमें जीवन-वृत्ति को "ख़ैरात' और 'बेकारी बीमा' का प्रतिरूप नहीं मानना चाहिये। ये चीज़ें सचमुच बहुत भिन्न हैं, क्योंकि पहली का मतलब है 'काम और जिन्दगी' और दूसरी है 'सड़ाँद और मौत'। बेकारी और अतएव जीविका का प्रश्न सिर्फ तभी

‡Grammar of Politics, p. 162

सन्तोष के साथ हल हो सकता है, जब कि हम यह समझ लें कि योग्यतापूर्ण और श्रम बचाने वाले यन्त्रों की सहायता से बढ़ी-चढ़ी उत्पादन-शक्ति की प्राप्ति हमारा लक्ष्य नहीं है और न यह होना ही चाहिये। हम अपने आर्थिक जीवन के 'मानवीय' पहलू की और अधिक उपेक्षा कर नहीं सकते। मनुष्य मशीनों या भौतिक वस्तुओं से कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान् है। उत्पादन और राष्ट्रीय सम्पत्ति वृद्धि की मनुष्य के लिये करनी है, उसका नाश करके नहीं। मेरे विचार में यह डॉ० सनयात-सेन के जनता के तीन सिद्धान्तों का सही खुलासा है। यह पर्याप्त आश्चर्य-मिश्रित जिज्ञासा का विषय है कि एक अन्य महान् एशियाई नेता, महात्मा गाँधी ने, चाहे भिन्न शब्दों में सही, किन्तु उन्हीं सिद्धान्तों पर जोर दिया है। आगामी अध्याय में मैं पूँजीवादी और साम्यवादी किस्म की कतिपय योजनाओं का संक्षेप मे विवेचन करूँगा और देखूँगा कि वे 'योजना' के उपरोक्त मूल सिद्धान्तों की पूर्त्ति कहाँ तक करती हैं।

३

गांधी योजना ही क्यों ?

पिछले कुछ दशकों में उत्पादन शक्ति में बहुत बड़ी उन्नति हुई है और यह केवल औद्योगिक क्षेत्र में ही नहीं बल्कि कृषिक्षेत्र में भी। प्राय: प्रत्येक स्थान में उत्पादन शक्ति की इस तरक्की ने जन संख्या की वृद्धि को मात कर डाला है। स्पष्टत: ऐसी तरक्की के द्वारा संसार को अधिक समृद्ध, और सुखी होना चाहिए, और ग़रीबी की समस्या अपने आप हल हो जानी चाहिए। लेकिन इस सबके बजाय हम क्या पाते हैं ? संसार में एक अभूतपूर्व मन्दी दृष्टिगत हुई जिसके प्रचण्ड आघात ने संसार के घुटने तोड़ दिए। खाने का सामान व कच्चा माल प्रचुर मात्रा में था, पर उसके लिए लाभजनक मूल्य पर खरीदार न मिल सके। लाखों आदमी व औरतों के लिए कोई काम न था क्यों कि फेक्टरी अधिनायकों के पास लाभ के साथ माल की निकासी के लिए कोई साधन न थे। फ़लत: अपनी उत्पादन शक्ति से संसार भयभीत है, और यह शक्ति जितनी ज्यादा बढ़ती है उतनी ही कम संसार की शक्ति इसे अपनाने में समर्थ है! प्रोफ़ेसर कोल ठीक पूछते हैं :—

'उत्पादन शक्ति की वृद्धि यदि बेकारी व क्लेश का निश्चित कारण बनती है तो इसका क्या उपयोग है कि ऐसी शक्ति को बढ़ाने के लिए वैज्ञानिकों को साधन खोजने चाहिये ? इसी प्रकार मानवों के श्रम-भार को कम करने से क्या फ़ायदा यदि उसके द्वारा, बहुतेरे मनुष्यों को काम और आजीविका से हाथ

धोना पड़े ? भला हम उस संसार के लिए क्या कहेंगे जिसमें कि एक किसान जब अपनी फसल बोता है भगवान से प्रार्थना करता है कि फ़सल खराब हो ताकि वह आर्थिक कठिनाइयों से बचा रहे। हम एक अनोखी दुनिया में रहते हैं। और इसमें कोई ग़लती नहीं हैं।‡

इस प्रकार वस्तु-उत्पादन की हमारी भौतिक शक्ति ने उपयोग-शक्ति को पीछे फेंक दिया है। परिणामतः हमें विस्तृत पैमाने पर बेकारी, दुख और मानवो का शारीरिक व मानसिक पतन दिखाई देता है। 'निःसन्देह हमारे सामने एक ऐसा औद्योगिक दृश्य है जहां कोरी वृद्धिकारक क्षमता के आधार पर उत्पादन ज्यादा से ज्यादा हो रहा है, लेकिन ज्योंही यह क्रम चालू है, उत्पादित वस्तुओं की मांग मरती जा रही है।"* यह हास्यास्पद है कि सम्पत्ति के पदार्थ व सम्भाव्य प्रचुरत्व के रहते हुये मनुष्यो को भूखों मरना पड़े और अकथ बाहुल्य के बीच अधम ग़रीबी का स्थान रहे। क्रैब ने लिखा था :—

प्रचुरत्व हुआ तो क्या हुआ,
अफ़सोस कि उसने थोड़ों पर,
निज दया-दृष्टि को डाला है।
बहुतों को मज़ा नहीं मिलता;
यद्यपि धनराशि देखते हैं,
वे तो ग़रीब हैं, खोदते खदान है।

---

‡The Intelligent Man's Guide through World Chaos. p. 65.

*Work, Wealth and Happiness of Mankind by H. G. Wells, p. 523.

द्विगुण दारिद्रय उन्हें,
धनराशि यह देती है ॥*

निसन्देह यह .खूब साफ़ है कि उत्पादन की प्रचुरता हमारी .आपत्तियो का कारण नही, वल्कि आर्थिक ढांचे का वह संगठन और उसके वे आदर्श हैं जिन्हें लेकर यह आज खड़ा है। पूंजीवाद केवल शोषण और बेकारी को ही अपने साथ नहीं लाया है, वरन उसने मनुष्य को, उसका व्यक्तित्व नष्ट कर मशीन का पुर्जा और तोपों की .खुराक बना डाला है। उसने धीरे धीरे किन्तु निश्चित रूप से प्रजातन्त्र शासन की मजाक बना उसे .खत्म कर डाला है। इस प्रकार मानवता को उसने विकल कर दिया है और सारे संसार पर निर्दयी 'स्वर्ण' का क्रूर कलोसस की भांति आधिपत्य छाया है। पूंजीवाद को आजादी, न्याय व प्रजातंत्र की पोशाक पहनाने के लिये थोथे व लज्जाजनक प्रयत्न किए जाते है, किन्तु अब हर एक जानता है कि मखमली दस्ताने के भीतर फौलादी मुट्ठी छिपी है। क्योंकि पूंजीवाद के प्रभुत्व को चुनौती दी जाती है और उसे खतम करने की धमकी दी जाती है तो वह फासीवाद व नात्सीवाद के रूप में क्रूर शक्ति व अनियन्त्रित धृष्टता को लेकर घृणित तरीके पर उभार खाता है। प्रोफेसर लास्की ने स्वरचित "यहाँ से हम कहाँ जाते हैं।"‡ नामक पुस्तक में पश्चिम

---

*"When plenty smiles—alas! She smiles
for few,
And those, who taste not, yet behold her store,
Are as the slaves that dig the ore,
The Wealth around them makes them doubly
poor."

‡'Where do we go from here!

के नूतन राजनैतिक इतिहास का खाका खींचा है। और निश्चित तौर पर सिद्ध किया कि पूंजीवादी देशो में प्रजातंत्रात्मक शासन असम्भव है। जहां भी विरोधी शक्ति मजबूत नहीं है वहाँ पूंजीवाद शासन के पार्लमेण्टरी तरीके और अपना बाना बनाए रख सक्ता है, लेकिन असुरक्षितता व खतरे के सामने उसे अत्यन्त कठोर बल व पूर्ण दमन के प्रयोग में हिचकिचाहट नहीं है।

लार्ड कीन्स ने अपनी 'अ-हस्तक्षेप नीति का अन्त'* नाम की पुस्तक मे पूंजीवाद के सिद्धान्त की परिभाषा इस प्रकार की है कि वह "मानवों के द्रव्योपार्जन करने व उसे प्यार करने की स्वाभाविक प्रवृत्तियों को आर्थिक मशीन का मुख्य उद्देश्य मानते हुये उनकी उग्रतम अपील पर अवलम्बित है।" द्रव्य के इस अपरिमित लोभ ने साम्राज्यवाद, शोषण व उपनिवेश-स्थापन की जटिल शृंखला को जन्म दिया है, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम होता है—रक्तरंजित युद्ध और विस्तृत मानव-संहार। बर्नार्ड शा ने कहा है कि 'पूँजीवाद को न विवेक है और न कोई उसका अपना देश है।" उसका देवता स्वर्ण है और उसकी उच्चाभिलाषा है लाभ। इसे ही हम मानव-हित-वाद के बजाय अर्थ-हित-वाद की संज्ञा देते हैं। जैसा कि अमरीका के उप-राष्ट्रपति मि० वेलेस हमें संकेत करते हैं कि व्यापार-धन्धों के अधिनायक 'वाल स्ट्रीट' को पहिला और राष्ट्र को दूसरा स्थान देने को तत्पर हैं। प्रो० सोडी ने कहा है :—‡

"द्रव्य आज की सभ्यता का खोखला स्थल है।" आज के द्रव्य-विशेषज्ञ के लिए यह मानना कि 'द्रव्य मनुष्य के लिए

*The End of Laissesy-faire.

‡Money Versus Man. p. 108.

है, न कि मनुष्य द्रव्य के लिए कुछ इतना ही धर्मविरुद्ध होगा जितना कि एक समय यह विश्वास करना और पढ़ाना रहा होगा कि पृथ्वी सूर्य्य का चक्कर देती है, न कि सूर्य्य पृथ्वी का।' अतः हम एक द्रव्यान्ध संसार में रहते हैं जहाँ के सर्वोच्च अधिकारी पूंजीपति हैं। शैकोटिन ने ठीक लिखा है कि 'लाभ व द्रव्य के लिए इस अविराम व उन्मत्त दौड़ ने जन-साधारण का बलपूर्वक क्लेशयुक्त उत्पीड़न किया है।' लेकिन पूंजीवाद में अपने विनाश के जन्तु मौजूद हैं क्यों कि अमर्यादित लोभ कभी न कभी अपने पर ही वार कर बैठता है और इस प्रकार बर्बादी व विपत्ति को फैला देता है। कहावत है कि अगर हम चुटकी भरेंगे तो अवश्य मार खांयगे। जैसा कि कम्यूनिस्टों के के प्रसिद्ध घोषणापत्र में दिया है कि 'आधुनिक व्यापार-धन्धे वाला संघ अपनी उपज, लेनदेन और समृद्धि को लेकर उत्पादन व विनियोग के वृहत्काय तरीकों की मोहिनी उस जादूगर की तरह डाले हुये है जिसने कि मंत्रमुग्ध करने के लिए नारकीय संसार की शक्तियों को आह्वान दे दिया है, पर उन पर क़ाबू रखने मे अब असमर्थ है।" तो फिर रोग का प्रतिकार क्या है? प्राचुर्य में अभाव और उपज-बाहुल्य में निरंकुश विध्वंस की यह विचित्र पहेली किस प्रकार हल की जाय? वस्तु स्थिति को ऐसा ही छोड़कर हम इस मूढ़ आशा में—कि समय अपने आप रोगमुक्त कर देता है—आलसी व आत्मतुष्ट नहीं रह सकते। क्यों कि 'यह तो उस गाड़ी में हाथ कटे आलसी की भाँति बैठने के समान है जिसका घोड़ा बेतहाशा भाग निकला है।' कदाचित आप यह कह कर अपने को क्षम्य समझें कि 'तो मैं क्या कर सकता हूँ?' लेकिन आप की शक्तिहीनता सर्वनाश को नहीं रोकेगी।

फ़ासिस्ट योजना

संसार के भिन्न भिन्न देशो में योजनाओं के तीन स्पष्ट स्वरूपों को अब तक आजमाया गया है। पहिली फासिस्ट या नाजी योजना है, लेकिन इसका इलाज निर्विवाद रूप में बीमारी से बदतर है। सितम्बर १९३६ में स्वयं हिटलर ने जर्मनी की चतुर्वर्षीय आन्तरिक पर्याप्त-क्षमता की आर्थिक योजना घोषित की थी, जिसने शस्त्रीकरण और स्वयं सम्पन्नता के राष्ट्रीय आर्थिक तैयारी के तरीकों से बेकारी को निःसन्देह कम कर दिया है। लेकिन कारोबार की पूर्णता से रहन सहन का माप ऊंचा नहीं उठा, प्रत्युत देश शस्त्रों से पूर्णतया लैश हो गया और जर्मनों को 'मक्खन' की बजाय 'बन्दूकों' को पसन्द करना सिखाया गया। नाजी अर्थवाद मुख्यतः युद्ध हुआ। वह भड़का भी, और उसके धड़ाके ने सारे संसार की नींव ही हिला डाली। यद्यपि 'सहयोग-शासन' के नाम पर मजदूर वर्ग को शान्त और संतुष्ट करने की कोशिश की गई तो भी 'बड़े बड़े उद्योगपति' पैसे के बल पर अपना उल्लू सीधा करते रहे। वास्तव मे फासीवाद स्वयं अवनति-ग्रस्त अतएव हमलावर पूंजीवाद में से ही निकला है और इसका मुख्य कार्य लोभ और शोषण के लड़खड़ाते हुये किले को मजबूत बनाना था। फासिस्ट योजना में व्यक्ति को निर्दयता-पूर्वक राज्य के एक तंत्र-शासन के आधीन कर दिया गया। राज्य शक्ति में देवत्वारोपण सब कालों की मूर्तिपूजा से अधिक खतर-नाक है और हम उसी के बीच रहते है।[1] लोक-

---

The Totalitarian State against Man, by Count Condenhove—Kalergi, p. 20.

तत्र जो मूलतः मानव-व्यक्तित्व के प्रति सम्मान पर स्थित है, एक सर्व शक्तिमान तानाशाही को स्थान देने के लिए उद्योगपूर्वक कुचल दिया गया है। "मनुष्य सब चीजों का मूल्य-मायक यंत्र है।" जैसा यूनानी विचारक प्रोटोगोरस का कथन है। लेकिन मनुष्य के बजाय 'राज्य सत्ता' अब हमारे सब सिद्धान्तों के मापने का दण्ड बना दी गई है। अथेन्स का आदर्श 'पूर्ण-सत्तायुक्त मानव' था, लेकिन फ़ासिस्ट अर्थवाद 'शाशन की एकतत्रीय सत्ता' वाले स्पार्टा सिद्धान्त का अनुसरण करता है।

अमरीकी 'नई तरकीब'

आर्थिक योजनाओं के दूसरे स्वरूप का परक्षिण संयुक्तराष्ट्र अमरीका में हुआ है। मेरा संकेत राष्ट्रपति रूज़वेल्ट की 'नई तरकीब' या 'नये व्यवहार' से है। वास्तव में यह 'नई तरकीब' शब्द के ठीक अर्थ मे कभी भी योजना नहीं रही है। वह तो सामयिक उपादेयता के प्रयोगो की वह माला है, जिसका अभिप्राय पूँजीवाद को बुरे समय में से सुरक्षा के साथ निकालने का था। कुव्यवस्था के बहुत प्रत्यक्ष कारणों को हटाकर पूंजीवाद की प्रथा के पुनर्निर्माण के लिए वह एक सोचा हुआ प्रयत्न था। प्रेसीडेन्ट रूज़वेल्ट ने अमरीका में एक नूतन आर्थिक पद्धति की स्थापना का इरादा नहीं किया था। उन्होंने केवल पुरानी प्रणाली को प्रबल उलट फेर व मरम्मत के द्वारा पुनः चलाने की कोशिश की थी। पूँजीपतियों की सहायतार्थ अतिरिक्त काम जुटाकर, प्रभावकारी मांग की मात्रा को बढ़ाते हुये, सरकारी बड़े बड़े काम (पब्लिक वर्कस) शुरू किए गये। काम करने के घण्टे घटाए गये, मजदूरियां बढ़ाइ गईं, आयात-निर्यात के करों को पुनः व्यवस्थित किया गया, बाजारू भरमार को हटाने के लिए सरकारी खरीद के द्वारा, कृषि को मदद दी गई और खेती की

क़मियों को ऊंचा उठाने के लिए कुछेक फसलों के लिए कृषिक्षेत्र कम किए गए। आर्थिक स्वस्थता को पुनः प्राप्त करने के लिए बेंकों को सरकारी कर्जे दिए गये। क़मितों की साधारण सतह को विधिवत् रखने के लिये करेंसी-प्रसार और (द्रव्य-बाजार) की 'खुली कार्रवाइयो को काम में लाया गया। इन तरीकों से अमरीका को बहुत अंश में, संकट को पार करने मे सहायता मिली। लेकिन वह घुसी हुई बीमारी की स्थायी चिकित्सा न थी। इसमें कठिनाई को कम करने के लिए, केवल लक्षणों की दवा दारू, एक अस्थायी तौर पर, हुई थी। 'अमरीकी 'नवीन व्यवहार' का अभिप्राय आधे समाजवाद के भी किसी स्वरूप की ओर बढ़ने का न था, प्रत्युत वह अमरीकी पूंजीवाद को एक मर्तबा फिर से लाभ ऐंठने की बुनियाद पर बिठाने का प्रयत्न था'।

ब्रिटिश योजना

ब्रिटेन अपनी दकियानूसी प्रथाओं के अनुरूप आर्थिक योजना के क्षेत्र में एक अभिप्राय शून्य नीति का अवलम्बन करता रहा है। इसे प्रायः सत्य ही कहा जा सकता है कि सन् १६१४ तक वहां योजना-रहित अर्थ-प्रबन्ध की क़रीब क़रीब पक्का मिसाल मिलती थी। लेकिन युद्ध के अनुभव के बाद ऐसी स्वतन्त्र वृत्ति उस समय जीवित न रह सकी जब कि व्यापार, उद्योग और कृषि पर सरकारी नियंत्रण निहायत ज़रूरी था। गत युद्ध के बाद की मन्दी के बाद ब्रिटेन को भी आर्थिक योजना के कुछ तरीकों को काम में लाना पड़ा। पर बग़ैर सहयोग-सम्बन्ध के और सब दृष्टि से बिना किसी प्रत्यक्ष लक्ष्य के यह सारी की सारी योजना खण्डरूप में हुई। एक ख़ास समय की स्थिति के दबाव से उसने वही किया है जो उसे करना पड़ा। इस दिशा का

*Practical Economics, by G. D. H. Cole p. 164.

अन्तिम प्रयत्न प्रसिद्ध 'वेवरिज योजना' है। इसका मुख्य उद्देश्य है—'पूरी तौर पर काम धन्धों में लगाए रखना' और बेकारी बीमा, अशक्तता-लाभ, वृद्धावस्था की पेन्शन, बच्चों के लिए भत्ता और डाक्टरी सेवा के द्वारा जीवन की सारी अनिश्चित घटनाओं में प्रत्येक नागरिक के लिए कम से कम एक राष्ट्रीय आयकी गारण्टी। इसका अर्थ अमीरों पर टैक्स लगाकर उन्हें नीचे उतारना और ग़रीबों को इस टैक्स की आमद में से जीवन के भिन्न-भिन्न सुखों को देकर उन्हें ऊँचा उठाना है। डिज्र ली ने कहा था कि इङ्गलैंड 'धनिकों' और 'निर्धनों' की दो जातियों में बंटा हुआ था लेकिन 'वेवरिज-योजना' के सदृश स्कीमो के फलस्वरूप डीन इङ्ग के शब्दो में देश अब 'कर-देयक' और 'कर-खायक'* ऐसी दो जातियों में बंट जायगा। यह सत्य है कि बेकारी के लिए बीमा खैरात जैसा हीन नहीं है, लेकिन हमे यह मानना होगा कि यह फ़र्क केवल परिणाम में है, न कि प्रकार में। अतः इस प्रकार की योजना वह गोलमाल प्रक्रिया है जिसमें पूँजी-पतिओं को ग़रीबों को पहिले चूसने की इज़ाजत है और फिर इन शोषितो को शोषणकर्त्ताओं के टैक्स द्वारा आर्थिक मदद के कुछ छोटे-छोटे टुकड़े फेंक देना है। वस्तुतः यह सारी अस्वा-भाविक, अपमानजनक एवं अशास्त्रीय है।

रूसी योजना

योजना की तीसरी किस्म रूसी संघ की है। रूस की दोनों पंचवर्षीय योजनाओं ने सारे विश्व का ध्यान खींचा और उनको तारीफ मिली, क्योंकि वे पूँजीवाद से भिन्न सिद्धान्तों पर आधारित थीं। रूस के इस प्रयोग का शोषित जनता के उद्धार-कर्त्ता के रूप में समूचे विश्व में स्वागत हुआ। यह भी सच है

*The Fall of the Idols. p. 105.

कि रूसी संघ को एक पूर्ण और सुव्यवस्थित योजना के द्वारा अपने जन-साधारण का रहन सहन उठाने में सफलता मिली। कड़े अनुसाशन के साथ पूँजीवर्ग को विधिपूर्वक दूर हटाया गया और उसे उखाड़ कर फेंक दिया गया। बड़ी बड़ी संख्या में हत्याएँ की गईं, राजद्रोहात्मक मुकद्दमें चलाए गये, लोगों को निकाल फेंका गया, और मजदूरों के एकाधिपति के रूप में कम्यूनिस्ट पार्टी का सर्वोच्च शासन जम गया। व्यक्ति-स्वातन्त्रय को कम और सीमाबद्ध कर देना पड़ा। तथापि रूसी प्रयोग आर्थिक पुनर्निर्माण के इतिहास में एक बड़ा उल्लेखनीय चिन्ह माना गया, क्योंकि उसने पूँजीवाद को अपने उच्चासन से नीचे ढकेल फेंका और आर्थिक जीवन की योजनाओ का काम जन-साधारण के सम्बन्ध मे चालू किया। सरकार उद्योग-धन्धे व व्यापार की मालिक बनी और उनकी व्यवस्था उसने जनहित के लिए की। अतएव स्वाभाविक तौर पर रूस की राज्य-क्रान्ति ने संसार के ग़रीब, कुचले हुये और शोषित राष्ट्रों को आशा और आनन्द से प्लावित कर दिया।

लेकिन अब प्रतिक्रिया शुरू हो गई है और रूसी क्रान्ति के अब तक के समर्थक और प्रशंसक अपने भ्रम के हट जाने का अनुभव कर रहे हैं। लुई फिशर, मैक्स ईस्टन, ऐण्ड्रे जीड और फ्रेडा उतले सरीखे लेखक और विचारक–जिन्होंने 'सोविएट संघ' में वर्षों बिताए और जिन्होने रूसी प्रयोग की जानकारी संसार को दी—आज उस क्रान्ति की उस दिशा से निराश है, जिस पर कि वह बढ़ रही है। हमारे देश में भी श्री० मसानी जैसे जोशीले समाजवादी रूसी योजना के नतीजों से अब बहुत असंतुष्ट हैं। आदि में, समाजवादी संघ की उत्पत्ति एक वर्ग-रहित, प्रजा-तन्त्रात्मक और अन्तर्राष्ट्रीय संघ बनने के लिए थी। उसमे मजदूरो के एकाधिपत्य की अवस्था अल्पस्थायी मानी गई थी,

क्योंकि सरकार स्वयं परिवर्तन काल के पश्चात् मिट जाने को थी। रूसी संगठन का आधार-शिला लोकशाही होने वाली थी और क्रान्ति का अन्तिम उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय कम्यूनिज्म (समुदायवाद) था। लेकिन वर्ग रहित होना तो दूर, समाज एक नये और शक्तिशाली श्रेणी यानी प्रबन्धक वर्ग से शासित है।* इसके अलावा आय की असमानता दिन प्रति दिन बढ़ती जा रही है, जिसका पारस्परिक वैषम्य ८० गुना है। सरकार किसी भी तरह के स्वातन्त्रय के पूरे गलाघोट नियंत्रण को ज़रा भी ढीला करने की प्रवृत्ति नहीं दिखाती, और मज़दूर, समुदाय की तानाशाही का परम उत्कर्ष 'लोगों की पूर्ण फौजी गुटबन्दी' के रूप में हुआ है। 'वह तानाशाही अब कम्यूनिस्ट पार्टी की भी नहीं रही है, बल्कि एक नेता की है जिसका काम 'जी० पी० यू०' नाम की एक निर्दय और कठोर खुपिया पुलिस के द्वारा चल रहा है और जिसके नमूने पर हिटलर ने अपने 'गेस्टैयों'‡ का निम्माण किया है।" और अब तो कम्यूनिष्ट अन्तर राष्ट्रीय परिषद् और उसके राष्ट्रीय-गान 'इन्टरनेशनेल' को खतम करके सोवियट संघ ने खुल्लमखुला अन्तराष्ट्रीयता के सब चिन्हों को हटा फेंका है। इस प्रकार राष्ट्रीयता की तरफ लौटने पर उसके स्वभाविक परिणाम—साम्राज्यवाद के पुनरागमन को रोक रखना, चाहे वह समाजवादी छाप का ही क्यों न हो, प्रायः असम्भव है। फिर वर्त्तमान युद्ध की प्रगति के साथ साथ अब तो काफी तथ्य यह बता रहे हैं कि रूस एक विशाल और उद्धत 'समाज वादी साम्राज्य' या मीठे और कोमल शब्दों में 'समाज वादी जनपद' थी और शीघ्रतापूर्वक अग्रसर हो रहा है।

---

*Burnham's Managerial Revolution
‡Socialism Re-considered by M. R. Masani. p. 20.

इस कायापलट का मुख्य कारण खोजना दूर नहीं है। केन्द्रीयभूत निमंत्रण और विस्तृत योजना मे व्यक्ति-स्वातंत्रीय का हनन और हरण अवश्यम्भावी है और आने वाली राजनैतिक शक्ति शासकों—चाहे वे कितने ही महान और उदारचेता क्यों न हों-अवश्य भ्रष्ट कर डालती है। प्रोफेसर गोड अपनी पुस्तक 'राजनीति और सदाचार पथ-प्रदर्शिका* मे लिखते हैं :—

'इतिहास का अध्ययन बताता है कि तानाशाही अपने स्वभाव से ही, ज्यो ज्यों बड़ी होती है, कम नहीं किन्तु ज्यादा उग्र बनती है और वह आलोचनाओ के प्रति भी कम नहीं बल्कि ज्यादा क्षुब्ध व अधीर हो उठती है। आधुनिक संसार की घटनायें इस विचार को पुष्ट करती हैं। तथापि समुदायवाद का सिद्धान्त इतिहास की शिक्षा के ठीक विपरीत नियम बना लेता है और वह मानता है कि किसी खास समय में तानाशाही सरकार पहिले स्वतंत्रता देने से इन्कार करती थी, अपना प्रभुत्व छोड़कर वह उसे देने को राजी होगी और इस प्रकार विपरीत दिशा मे चलने को तैयार रहेगी। लेकिन ऐसे निष्कर्ष की इजाजत न इतिहास देता है और न मनोविज्ञान ही।'

यह सत्य है कि सोभियट रूस मे उत्पादन के साधनों पर सरकार का कब्जा है, लेकिन मौलिक महत्व का प्रश्न यह है कि "सरकार पर अधिकार किसका है?" राजनैतिक और आर्थिक मामलों के केन्द्रीयभूत निमंत्रन से सारी शक्ति सर्वोच्च डिक्टेटर स्टालिन और उसकी प्रबन्ध कर्त्री नौकर शाही के हाथों में अपने आप जमा हो गई है। डाक्टर ज्ञानचंद अपनी पुस्तक 'भारत के व्यवसायिक प्रश्न'‡ की भूमिका में लिखते हैं :—

---

*Guide to the Philosphy of Morals and Politics.

‡Industrial Problems of India.

'उत्पत्ति की समस्त प्रणाली के केन्द्रित नियंत्रन की नीति में अन्तर्निहित आर्थिक व राजनैतिक स्वेच्छा चारिता के खतरों को स्वीकार करना होगा। किसी मालिक के नीचे रहकर अपनी आमीषिका कमाने को विवश होना काफी बुरा है, लेकिन काम-काज की प्राप्ति के प्रत्येक साधन पर अधिकार युक्त सरकार द्वारा थोपी गई आधीनता की बुराई की कोई सीमा नहीं है।'

प्रोफेसर गिन्स वर्ग अपने 'समाज-मनोविज्ञान'* में कहते हैं:-

"केन्द्रीय सरकार के किसी भी रूप की प्रवृत्ति स्वल्पजन-सत्तात्मक होगी। हमें कहा जाता है कि सरकार 'लोप' हो जायगी।

लेकिन उस सूरत में एक प्रवल अल्पसंख्या अवश्यमेव उठ खड़ी होगी ......सच्चे तौर पर मूल्य-संयुत होने के लिये पुन-र्निर्माण भी नीतिका लक्ष्य विकेन्द्री करण होना आवश्यक है।"

(चीन के) राष्ट्रीयता, प्रजातंत्र और आजीविका के त्रिजा-तीय सिद्धान्तो पर विचार करने से नाजी, अमरीकी व रूसी योजनाओं के तीनों प्रकार हमारे आदर्श से पीछे रह जाते हैं। इनमे से अन्तिम (रूसी) आजीविका के सिद्धान्त को कम से कम बहुत अंश मे संतुष्ट करता है, लेकिन आजीविका मात्र ही परियाप्त नहीं है। व्यक्ति-विकास के लिये क्षेत्र और स्वतंत्रता का होना आवश्यक है।

गाँधी-योजना

तब फिर शेष उपाय क्या है? इसका हम सादगी, विकेन्द्री करण और घरेलू उद्योग-धन्धावाद मे है। उसी दृष्टिकोण से गांधीजी के अर्थ-सम्बन्धी विचारों का महत्त्व ऐसे समय में असाधारण हो गया है, जब कि दूसरे अर्थ-सिद्धान्तों ने हमें

---

*Psychology of Society.

अन्धेरे में ला पटका है। एक समय था जब कि गांधीजी के अर्थ-वाद को असंगत, सनकपूर्ण और अव्यवहार्य कहकर उसकी खिल्लियां उड़ाई जाती थीं। लेकिन बाद के इस देश के ही नहीं वरन् सारे संसार के अनुभव ने विकेन्द्रित उद्योग-धंधावाद के आर्थिक तात्पर्य और संभावनाओं के ध्यान-पूर्ण अध्ययन के लिये लोगों को विवश कर दिया है। यहां तक कि प्रोफेसर कोल सरीखे प्रसिद्ध अँगरेज अर्थ-शास्त्री को यह मानना पड़ा है कि 'घर के बने कपड़े का धंधा यानी खद्दर के प्रसार के लिये गांधीजी का संघटित प्रयत्न भूतकाल के पुनर्जीवन के लिये उत्सुक किसी कौतुकपूर्ण व्यक्ति की धुन-मात्र ही नहीं है बल्कि वह भारतीय किसान के रहन-सहन को ऊंचा उठाने के लिये और उसकी गरीबी को दूर करने के लिये एक क्रियात्मक कोशिश है।"‡ अतएव वर्त्तमान समय मे गांधी योजना की जरूरत बहुत बड़ी और व्यवहारिक है क्योंकि यह व्याकुल और युद्ध-जर्जर संसार को शांति, लोकतंत्र और मानव-मूल्य पर आधारित एक आर्थिक प्रसार भी प्रदान करती है।

---

‡ 'A Guide to Modern Politics' by G D. H. Cole, p. 290.

(४)

गांधी-अर्थशास्त्र के मूल सिद्धान्त

भारत की आर्थिक उन्नति के लिए गांधी योजना की रूप-रेखा खींचने के पहले गांधीजी के अर्थ-सम्बन्धी विचारों में के कतिपय मूल सिद्धान्तों को जानना और उनका विश्लेषण करना उपयोगी होगा। इन आधारभूत विचारों को बग़ैर समझे ग्रामोद्योग और बिखरी हुई उत्पादन शक्ति पर उनके बलपूर्वक दिये गये वास्तविक महत्व का बोध कदाचित असम्भव हो।

सादगी

गांधीजी का दृष्टिकोण मध्यकालीन बाबा आदम के ज़माने का नहीं है; वे उन्नति की शक्तियों को पीछे नही ले जा रहे हैं। क्रियात्मक आदर्शवादी होने के कारण गांधीजी आधुनिक सभ्यता की असली और गहरी व्याधि का निदान करने में समर्थ हुए हैं और उस बीमारी की चिकित्सा का निर्देश करते हुए वे आधुनिक युग के पीछे नहीं, किन्तु आगे है। वर्तमान पाश्चात्य सभ्यता भौतिक सुख को सबसे अधिक महत्व देती है और मानती है कि शारीरिक ऐश व आराम का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ संग्रह एक प्रगतिशील व्यक्ति या राष्ट्र का उद्देश्य होना चाहिये। जैसा कि 'हिंद-स्वराज्य'* में गांधीजी संकेत करते हैं:—"आधुनिक सभ्यता की सच्ची परीक्षा इस बात में है कि इसमें रहने वाले लोग शारीरिक सुख को जीवन का उद्देश्य बना लेते हैं।"

---

*Hind Swaraj, p. 87-88.

लेकिन यह भारतीय आदर्श नहीं रहा है। गांधीजी कहते हैं कि "हम देखते हैं कि मन एक चंचल पक्षी है ; जितनी अधिक इसकी इच्छा पूरी होती है उतनी ही अधिक इसकी लालसा बढ़ती है और फिर भी वह असंतुष्ट रहता है।" "हम जितना अधिक वासनाओं में लिप्त होते है उतनी ही ज्यादा वे स्वच्छंद हो जाती हैं। इसीलिये हमारे पूर्वजों ने हमारी वासना-तृप्ति को सीमावद्ध कर दिया था। उन्होंने अनुभव किया कि सुख अधिकतर एक मनोदशा है। यह जरूरी नहीं है कि धनी होने के कारण मनुष्य सुखी ही हो और निर्धन होने के कारण दुखी। धनिक प्रायः दुखी देखे जाते हैं और निर्धन सुखी। इस सबको देखकर ही हमारे पूर्वजो ने हमें ऐशो-आराम के लालच से दूर रखा। ऐसी बात नहीं थी कि हमे यंत्रो के आविष्कार करने का ज्ञान नहीं था, किन्तु हमारे पूर्वज जानते थे कि अगर हम अपनी बुद्धि ऐसी जरूरतों के पीछे लगा देंगे तो हम (वासनाओं के) गुलाम हो जायँगें और अपने आचरण की दृढ़ता खो बैठेंगे। अतएव उन्होंने खूब सोच-विचार के बाद निश्चय किया कि हमको केवल वही काम करने चाहिए जिन्हे हम अपने हाथों और पैरों द्वारा कर सकें। उन्होने अनुभव किया कि हमारा यथार्थ सुख व स्वास्थ्य हमारे हाथों और पैरों के ठीक उपयोग मे ही है।"‡ गांधीजी पुनः कहते हैं—"मै यह विश्वास नहीं करता कि आवश्यकताओं की वृद्धि और उनकी पूर्ति के लिए बनाई गई मशीनरी संसार को अपने ध्येय के एक भी क़दम नजदीक ले जा रही है।" पाशविक वासनाओ को बढ़ाने और उनकी तृप्ति की खोक में पृथ्वी के ओर-छोर तक पहुँचने के लिये समय और दूरी को मिटाने की मतवाली चाह को मैं हृदय से घृणा करता हूँ।"

---

‡Young India—17-3-1927.

जैसा कि वेल्स की 'आने वाली घटनायें' नाम की पुस्तक में थ्यूटोकोप्यूलस बोल उठता है, 'यह सब उन्नति कैसी? इस सारी उन्नति का क्या फ़ायदा? बढ़े चलो, बढ़ते ही चलो! हम तो चाहते है कि हम रुक जायँ और विश्राम लें। जीवन का उद्देश्य सुखमय ज़िन्दगी है।"

उन लोगों को, जो आधुनिक सभ्यता की 'छकाछक' के नशे में चूर हैं, गांधीजी का यह विचार वैराग्यपूर्ण व दार्शनिक लग सकता है। किन्तु सच बात तो यह है कि गांधीजी वर्तमान आर्थिक गड़बड़ी और राजनैतिक संघर्ष के ठीक मूल तक पहुँच गये हैं और उन्होने हमारे सब रोगों के आधारभूत कारण की नबज देख ली है। एक प्रसिद्ध अंग्रेज़ लेखक का कथन है, "समाजवाद और समुदायवाद (कम्युनिज़्म) उसी विचार-चक्र से बँधे हुए हैं जिससे कि संग्रहशील पूँजीवाद।" द्रव्य और उससे प्राप्य वस्तुओं के स्वामित्व को ये दोनों सर्वोच्च भलाई मानते है। यही कारण है कि बर्ट्रांड रसेल यह कहने को बाध्य हुए कि "अगर समाजवाद कभी आता भी है तो उसके उपकारी सिद्ध होने की संभावना केवल तभी हो सकती है जब कि लोग ऐसी वस्तुओं को जो आर्थिक नहीं हैं, 'मान' दें और उनके (महत्व के) पीछे ज्ञानपूर्वक लग जायँ। ‡

ऐसा प्रतीत होता है कि आधुनिक सभ्यता, यूनानी युवक नार्सीसस की भाँति, अपने आप पर—अपनी संपत्ति और प्रचुरता की छटा पर मोहित हो गई है और इस लिये उसके क्षीण होने और मर जाने की खासी आशा है। द्रव्य और भौतिक सामान के पीछे इस मतवाली दौड़ ने संसार को कठोर शोषण, दृढ़ साम्राज्यवाद और रक्त रंजित नर-संहार के भँवरजाल में डाल दिया है। यदि हम अपने जीवन-सम्बन्धी विचार और

‡ Road to Freedom.

आदर्शों की परीक्षा नहीं करते और उन्हे (जल्दी से जल्दी) बदलने को तत्पर नहीं होते तो अर्थ-शास्त्रियो की कितनी ही निपुण योजनायें और कुशल युक्तियाँ संसार को अन्तिम सर्वनाश से बचाने में समर्थ न हो सकेगी। सचमुच संसार ने हमे बहुत ज्यादा जकड़ रखा है और हमारी सारी शक्तियाँ (उस) द्रव्य के संग्रह मे नष्ट होती जा रही हैं जो हमारे जीवन का आदि उद्देश्य और अन्तिम लक्ष बन गया है। द्रव्य जिसका आरंभ लेन-देन के एक सुलभ साधन के रूप में हुआ था आज स्वयं अत्यन्त लालच की वस्तु हो गया है और इसके अत्याचारी शासन के नीचे संसार कराहता है। हम सब स्वर्ण के पीछे पागल राजा मिडास की अभिप्रायपूर्ण कहानी से परिचित है। हमे उस कहानी से, समय रहते अवश्यमेव शिक्षा लेनी चाहिये क्योंकि यदि हम इस तीव्र सनक के पीछे पड़े रहे तो मिडास की भाँति हम सारे मानवीय मूल्यों को स्वर्ण में बदल लेंगे और इस प्रकार अपने आप ही चाहे स्वर्णमय प्रतिमायें क्यों न बनें, निर्जीव होकर खतम हो जायँगे। वस्तुतः समाज को धारण करने के लिये द्रव्य का नकद-सम्बन्ध ही एकमात्र लक्ष नहीं होना चाहिये और मानव-जीवन की सर्वोत्तम वस्तुये वे (क्रियाये) नहीं हैं जिनमे एक मनुष्य का लाभ दूसरे का नुकसान होता है। वास्तव में सच्चे, संस्कृत और निःस्वार्थ नरनारी ही किसी राष्ट्र की यथार्थ संपत्ति हैं न कि प्रासाद तुल्य भवन, विशाल कारखाने और असंख्य विलासिता की वस्तुयें। यहाँ हम बर्नस की स्मरणीय पंक्तियाँ भी दे सकते हैं :—

सच्चा मनुज समाज में, श्रेष्ठ, जदपि धनहीन।
राजत शाह समान है, विदित, गरीबी लीन ॥‡

‡'The Honest man, though eve' so poor.
Is King O' men for a' that.'

टागोर प्रश्न करते हैं—"जोड़ते ही जोड़ते जाने से क्या फ़ायदा ? स्वर की ऊँचाई या मात्रा बढ़ाते जाने से हमें एक चीख़ के सिवा कुछ नहीं मिल सकता। स्वर को संयत रख उसे पूर्ण साल की मधुरता देकर ही हम संगीत प्राप्त कर सकते हैं।" ‡ ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व के प्रख्यात भारतीय विचारक कौटिल्य ने भी जो अपनी स्वस्थ व कुशल व्यवहार बुद्धि के लिए प्रसिद्ध हैं, अपने अर्थशास्त्र में लिखा है :—

"सब विद्याओं का लक्ष्य इन्द्रिय नियमन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जो कोई भी इसके प्रतिकूल आचरण वाला है तथा जिसकी इन्द्रियाँ जिसके वश में नहीं हैं वह शीघ्र ही नाश को प्राप्त होगा चाहे वह चतुर्दिगंत समस्त पृथ्वी का स्वामी भले ही क्यों न हो।"

पूर्व-देशीय लोगों के लिये ये विचार उतने ही वास्तविक हैं जितने उनके निजी हाथ और पाँव। वह उन्हें माता के दूध के साथ ही हृदयंगम कर लेता है। लेकिन पश्चिम वालों के लिए 'सादा रहन-सहन उच्च विचार' वाली धारणा काल्पनिक, मिथ्या और कोरी भावुकता पर निर्भर है। चूँकि आधुनिक अर्थ-शास्त्र पूर्णतः पाश्चात्य आदर्शों पर स्थित है पूर्वीय विचारधारा उसके सिद्धान्तों और नियमों को प्रभावित करने में अब तक समर्थ नहीं हो सकी है। किन्तु पूर्व का अपना अर्थ-शास्त्र था और अब भी है जो यदि अधिक नहीं तो, उतना ही वैज्ञानिक है जितना पश्चिम का अर्थ-शास्त्र। इसीलिए गांधीजी अपने आधारभूत आर्थिक विचारों को जो विशिष्टतया भारतीय हैं, बलपूर्वक प्रकट करने में किसी तरह की शंका और संकोच का अनुभव नहीं करते। इस तरह गांधीवाद का पहला मौलिक

---

‡ Thoughts from Tagore.

सिद्धान्त सादगी है। गांधीजी (जीवन की) बढ़ी हुई जटिलता और उन्नति को एक रूप नहीं मानते। उनके अनुसार एक प्रगतिशील आर्थिक पद्धति को जीवन अधिक सादा तथापि पूर्णतर बनाना चाहिये।

गांधीजी विस्तृत उद्योगवाद को भौतिक सम्पत्ति के अनवरत अनुसरण के अर्थ में लेते हैं जो अनिवार्य रूप से चरित्र और मानवीय मूल्यों की जड़ खोदता रहता है। यही कारण है कि भारत मे इसके प्रवेश के प्रति उनका इतना अटल एवं अडिग विरोध है।

"राष्ट्रीय योजना के सम्बन्ध मे मेरे विचार प्रचलित विचारों से भिन्न हैं। इसे मैं औद्योगिक-विस्तार-प्रणाली पर नहीं चाहता। मैं अपने गावों को विस्तृत उद्योगवाद के संक्रामक रोग से पीड़ित होने से बचाना चाहता हूँ।" ‡

जीवन में सादगी के नैतिक और मनोवैज्ञानिक मूल्य के अतिरिक्त हस्तश्रम के द्वारा अधिकतर स्वावलम्बन के बिना हम आर्थिक दासत्व की जटिल शृंखला में जकड़े जा सकते हैं। इसीलिये गांधीजी उद्योगवाद के साधनो द्वारा--प्लेटो के शब्दों में 'परिणाम की परवाह न करके संपत्ति के लिये सतत प्रतत्न करते रहने से हमें हतोत्साह करते हैं। अतः जहाँ तक हमारे दैनिक जीवन की आवश्यकताओ और न्यूनतम सुख-साधनों का सम्बन्ध है, गांधीजी केंद्रीकरण के सब प्रकारों से घृणा करते हैं और अपने हस्तश्रम द्वारा यथा संभव हर एक के स्वयं-पर्याप्त होने की वाँछनीयता का आग्रह करते हैं। गांधीजी का कहना है कि हमारी सब क्रियाओं का उद्देश्य स्वाधीनता के वातावरण में मानव व्यक्तित्व का विकाश और प्रस्फुटन होना चाहिये अतएव

‡ Harigan' 29-1940.

उद्योग-धन्धों के विकेंद्रीयकरण और स्थानीयकरण की आवश्यकता है। बड़ी मात्रा की उत्पत्ति, निस्संदेह आराम और विलासिता की अधिक वस्तुयें हमारे लिये जुटा देगी किन्तु (ऐसी सूरत में) हमारा जीवन प्रत्येक पग पर बँधा हुआ रहेगा और औल्डस हक्सलेकी 'बहादुर नई दुनियाँ'‡ के जंगली की तरह आज़ाद होने की आज़ादी को खो चुकने पर हमको अत्यन्त दुखी और लाचार होना पड़ेगा। सच्चे प्रजातन्त्र का इस प्रकार नामोनिशान ही न रहेगा। "क्योंकि विश्वास रखिये—प्रजातन्त्र तभी जीवित रह सकता है, वास्तव में उसका जन्म तभी हो सकता है, जब कि शासक 'प्रतिनिधि मंडल' उन व्यक्तियो का बना हुआ हो जिनमे से हर एक का अपने जीवन पर निमन्त्रण हो।"।

अहिंसा

गांधीजी के आर्थिक विचार का दूसरा मौलिक सिद्धान्त अहिंसा है। गांधीजी का मत है कि हिंसा, किसी भी शक्ल या सूरत में, किसी भी प्रकार की स्थाई शान्ति तथा सामाजिक—आर्थिक पुनर्निर्माण के किसी रूप की ओर नहीं ले जा सकती। यथार्थ लोकतन्त्र और मानव व्यक्तित्व का सच्चा विकास केवल अहिंसक समाज में ही विचार का विषय बन सकता है—हिंसा से और ज्यादा हिंसा का जन्म होता है और जो कुछ भी बल द्वारा प्राप्त होता है उसकी सुरक्षा के लिए उससे अधिक बल प्रयोग की जरूरत रहती है। सच्ची स्वतन्त्रता से हिंसा का कोई मेल नहीं है और हिसा द्वारा प्राप्त आज़ादी मनुष्य के खून से कलंकित है। "क्योंकि वे सब जो तलवार उठाते हैं तलवार से ही

‡ The Modern State, p. 161.

ख़तम हो जायँगे।" अतएव गांधीजी को हिंसा से कोई वास्ता न होगा क्योंकि एक व्यवस्थित समाज मे योजना केवल साधनमात्र है, स्वयं साध्य नहीं। यदि साध्य लक्ष्य भी हों तो भी वे इस सिद्धान्त को नही मानते कि साध्य प्राप्ति सब साधनों को ठीक बना देती है। साध्य की पवित्रता की रक्षा के लिए उसकी प्राप्ति के साधन भी उतने ही शुद्ध होने चाहियें।" यही कारण है कि गांधीजी मानते है कि साम्यवादी समाज भी अहिंसा के द्वारा ही स्थापित होना चाहिये, न कि खूनी क्रान्ति के द्वारा।

मेरी विनम्र धारणा है कि अहिंसा का यह विचार कोई धार्मिक भावुकतामात्र नहीं है और न अकेले गांधीजी इसकी आवश्यकता और महत्व पर ज़ोर देते हैं। सामाजिक और राजनैतिक घटनाचक्र की प्रवृत्ति के सूक्ष्म विश्लेषण के बाद प्रोफेसर लास्की ने सक्रीय घृणा और हिंसा की निरर्थकता को साफ़ तौर से स्वीकार किया है और वे "राज़ी-रजा राज्यक्रांति' का समर्थन करते है।

"क्योंकि (मानव प्रकृति के) समस्त गुणों में घृणा अपने स्वामी के लिये सब से बुरे ज़हरबाद के सदृश है। यह हम में उस आचरण को ला देती है जिसे हम दूसरों में दोषपूर्ण मानते हैं। आधुनिक संसार मे यह विश्वास करने के लिए कि शक्ति स्थायी रहेगी, उसे न्याय का जामा पहनाना आवश्यक है। यूरोप के आध्यात्मिक जीवन का श्रेय ईसा को है, न कि सीज़र और नेपोलियन को। पूर्व की सभ्यता चंगेज़खाँ या अकबर की अपेक्षा बुद्ध द्वारा अधिक प्रभावित हुई है। यदि हमें जीवित रहना है तो यही वह सत्य है जिसे हमें सीखना है। हम घृणा को प्रेम से और बुराई को भलाई से जीतते हैं; नीचता द्वारा केवल तत्सम कुटुम्ब की वृद्धि होती है।"

अपनी "स्वतंत्रता की व्यूहकला"‡ में प्रोफेसर लास्की कहते हैं :—

"हमारा विश्वास है कि लोकशाही सम्मति द्वारा बने हुये निर्णय हिंसा के जोर से लादे गये निर्णयों की अपेक्षा अंत मे अधिक टिकाऊ सिद्ध होते हैं।"

निश्चय ही हेरोल्ड लास्की को हम एक भावुक विचारक कह कर टाल नहीं सकते।

विगत महायुद्ध विश्व को प्रजातंत्र के लिये सुरक्षित करने तथा स्थायी शांति स्थापित करने के लिये हुआ था। लेकिन बलपूर्वक जर्मनी के दमन से हिटलर का जन्म हुआ। और अगर बलप्रयोग से ही हिटलर को दबाया जाता है तो हिंसात्मक शांति के फलस्वरूप एक बड़े हिटलर का जन्म अवश्यंभावी है।

यह कहने में कुछ नहीं रक्खा है कि दुनिया का तरीका हिंसा रहा है और वह बुद्धों या गाँधियों द्वारा बदला नहीं जा सकता। मानव समाज के सम्बन्ध मे प्राण विज्ञान के सिद्धांत की छीछालेदर बहुत पहले से हो चुकी है और फिर भी यह कहना कि संसार को खूँरेजी द्वारा 'जीवो जीवस्य जीवनम्' के सिद्धान्त का ही अनुसरण करना पड़ेगा—यह व्यर्थ का बुद्धिवाद है। बलप्रयोग और खून बहाने की पुरानी लीक पर चलने से सच्ची शांति, सुख और समानता की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह तो हमें अवश्य ही मृत्यु और सर्वनाश के गहरे रसातल मे पहुँचादेगी। संसार का घटनाचक्र पर्याप्त रूप में इस विचार का साक्षी है। यहाँ तक कि अटलाँटिक घोषणा पत्र को भी यह मानने को विवश होना पड़ा है कि "संसार के

---

‡ 'Strategy of Freedom.'

समस्त राष्ट्रों को, यथार्थ एवं आध्यात्मिक कारणों से बल-प्रयोग को छोड़ देना पड़ेगा।" अतएव मेरे लिये गाँधीजी की अहिंसा कोरी भावुकता नहीं है बल्कि नितान्त यथार्थ की स्पष्ट स्वीकृति और नैराश्य के दलदल से निकलने का एक तरीका है।

गांधी जी के अर्थ शास्त्र को अहिंसा का अर्थ शास्त्र भी कहा जा सकता है क्योंकि यह अहिसा का ही विश्वास सूत्र है जो उनके आर्थिक विचारों में सर्वत्र ओत प्रोत है। पूँजी वाद का आधार मानव श्रम के अतिरिक्त मूल्य का शोषण है जो एक अधम हिंसा है। पूँजीवाद की सेविका मशीन है। वह मजदूरों को हटा देती है और संपत्ति और शक्ति को कुछेक के हाथों में जमा कर देती है। इस प्रकार संपत्ति हिंसा द्वारा संचित होती है और उसको कायम रखने के लिये भी हिंसा की जरूरत पड़ती है। इसलिये गांधी जी असंतुलित यंत्रवाद और बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से कोई सरोकार नहीं रखना चाहते जो कि उनके अनुसार आधुनिक संसार की विपत्ति के मूल कारण हैं। गांधी जी कहते हैं "मेरा सुझाव है कि यदि भारत को अहिंसात्मक तरीक़ों द्वारा विकास करना है तो उसे बहुत सी चीजों को विकेंद्रित करना होगा। केंद्रीय-करण की संभाल और सुरक्षा बिना काफी बलप्रयोग के नहीं हो सकती। सादे घरों की रखवाली के लिये जिनमें से ले जाने के लिये कुछ रखा ही नहीं है, पुलिस की कोई जरूरत नहीं है, जबकि मालदारों के महलों की डकैतों से रक्षा करने के लिये हट्टे कट्टे चौकीदारों की जरूरत पड़ेगी। ठीक ऐसी ही जरूरत बड़े-बड़े कलकारखानों को रहेगी। फौजी, जहाजी और हवाई ताक़तों से सुसज्जित शहरी भारत की अपेक्षा सुसंगठित देहातों वाले भारत को विदेशी आक्रमण का खतरा कम रहेगा।"*

*Harijan, 30-12-1934

गांधी जी (और भी) कहते हैं कि "भारत का भाग्योदय पश्चिम के उस खूनी रास्ते में नहीं धरा है जिससे थक जाने के लक्षण वहाँ भी दीखते हैं; बल्कि शाँति के उस रक्त रहित रास्ते में है जो सरल और धार्मिक जीवन से आता है।"*

वर्तमान समाज में ज़ोर व ज़बरदस्ती के प्रयोग द्वारा आर्थिक समानता लाने का भी गांधी जी विरोध करते हैं।

"जब तक अमीरों और करोड़ों भूखे लोगों के बीच एक गहरी खाई रहेगी। तब तक अहिंसात्मक शासन पद्धति का होना स्पष्टतः असंभव है। स्वतंत्र भारत में जहाँ कि एक गरीब को वही सत्ता रहेगी जो कि देश के सबसे बड़े धनी को प्राप्त होगी—नई दिल्ली के महलों और दयनीय तंग झोपड़ियों का भेद एक दिन भी नहीं टिक सकेगा। जब तक कि स्वेच्छा से धन और उसके द्वारा प्राप्त होने वाली शक्ति का परित्याग करके उन्हें सार्वजनिक हित के लिये उपयोगी नहीं बनाया जाता है तब तक हिंसापूर्ण तथा रक्तरंजित क्रान्ति एक न एक दिन सुनिश्चित है। धरोहरवाद के सिद्धान्त की "खिल्लियाँ" उड़ाई जाने पर भी मैं उसी पर दृढ़ हूँ। यह सच है कि इस सिद्धान्त तक पहुँचना कठिन है। इसी तरह अहिंसा की सिद्धि भी तो कठिन है। मैं समझता हूँ कि हम हिंसा के तरीके से परिचित हैं। यह कहीं सफल नहीं हुआ है। कुछ लोगों का दावा है कि रूस में यह बहुत अंश में सफल हुआ है। लेकिन मुझे इसमें शक है। अभी से ऐसा चुनौतिरहित दावा करना बहुत ही जल्दबाजी है। हमारे अहिंसात्मक प्रयोग की अवस्था अभी भी अपरिपक्व है। प्रदर्शन के रूप में अभी तक हमारे पास कुछ अधिक नहीं है, लेकिन मेरा ध्यान पूर्ण अनुभव इस विचार पर

---

*Young India, 7-10-1926.

पहुँचाता है कि इस तरीके ने समानता की दिशा में कितने ही धीरे क्यों न सही, पर काम करना शुरू कर दिया है। और चूंकि अहिंसा परिवर्तन की एक प्रक्रिया है, इसलिये यदि इस परिवर्तन की प्राप्ति होती है तो उसे अवश्यमेव स्थायी होना चाहिए। अहिंसात्मक रूप से निर्मित समाज या राष्ट्र को अपने ढांचे के बाहरी व भीतरी आक्रमण को रोकने के लिए अवश्य समर्थ होना चाहिए।"‡

प्रोफेसर हक्सले का भी विश्वास है कि "कोई भी आर्थिक सुधार चाहे वह वस्तुतः कितना ही इष्ट क्यों न हो तब तक व्यक्तियों और उनसे बने समाज में इच्छित परिवर्तन नहीं ला सकता है जब तक कि वह अपने वांछित सम्बन्ध विशेष में और वांछनीय साधनों द्वारा सम्पन्न नहीं होता है।" जहाँ तक राज्य का सम्बन्ध है, विकेन्द्रीयकरण और सर्वलोमुखी स्वायत्त शासन ही सुधार का अभिप्सित संयोग है। सुधार को कार्यान्वित करने के लिए अहिंसा के तरीके ही अभीष्ट साधन हैं।" गांधी जी की तरह प्रोफेसर हक्सले रूस के हिंसापूर्ण साम्यवाद के खिलाफ है।" क्रूर निर्दयता से क्रोध की उत्पत्ति होती है, और क्रोध के आवेश का दमन बल द्वारा होना चाहिए। सदा की भांति हिंसा का मुख्य नतीजा है उग्रतर हिंसा के बल-प्रयोग की जरूरत। तो ऐसी है रूसी योजना—शुभ संकल्पों वाली, जो ऐसे प्रत्येक साधन का प्रयोग करती है, जिनके नतीजे उन नतीजों के बिल्कुल उल्टे हो रहे हैं जिन्हें लाने को क्रान्ति के आदि निर्माताओं ने सोच रक्खा था।"*

इसलिए गांधीजी के विचार से अहिंसात्मक समाज में शोषण की कोई गुंजाइश न रहेगी, क्योंकि उत्पत्ति सीधे उपयोग

‡Constructive Programme, p. 18-19.
*Ends and Means, p. 70.

के लिए होगी, न कि दूरवर्ती लाभदायक बाजारों के लिए। प्रत्येक गांव या गांवों का समूह करीब-करीब स्वशासित व स्वयं पूर्ण होगा और कड़ी केन्द्रीय योजना की कोई जरूरत न रहेगी। सिर्फ तभी लोग सच्ची लोक-शाही और आजादी का आनन्द ले सकेंगे। निःसन्देह इन अहिंसक ग्राम-प्रजातंत्रों की सीमाएँ संकुचित रहेंगी, लेकिन अलावा अपनी आर्थिक स्वयं पर्याप्तता के उनका साधारण दृष्टि कोण न तो संकुचित होना चाहिए और न वह रहेगा ही। आर्थिक स्थानीयकरण और संस्कृति व विचार के क्षेत्र में विशद राष्ट्रवाद एवं विशदतर अन्तर्राष्ट्रवाद बेमेल नहीं है।

श्रम पवित्रता

गांधीजी की आर्थिक सभ्यता के अन्तर्गत तीसरा महत्त्वशील सिद्धान्त है हस्तश्रम की प्रतिष्ठा और उसकी पवित्रता। गांधीजी के लिए श्रम प्रकृति का नियम है और उसकी उपेक्षा हमारे वर्तमान आर्थिक घोटाले का मुख्य कारण है।

"यह पहले दर्जे की दुःखगाथा है कि लाखों ने अपने हाथों को हाथों की तरह काम में लाना छोड़ दिया है। हम मनुष्यों को दी गई अपनी इस देन की भयंकर बरबादी के लिए प्रकृति भीषण परिणाम पूर्वक हमसे अपना प्रतिशोध ले रही है।"‡

पुनश्च,

"खुद के शरीरों को जंग लगने देने के लिए छोड़ कर और उनके स्थान पर निर्जीव मशीन को ला रखने की कोशिश में, हम शरीर रूपी सजीव मशीन को बर्बाद कर रहे हैं।§

सेंटपाल का कथन है कि "वह जो काम नहीं करेगा, खायेगा भी नहीं।" और उसने इस बात से अपने को यशस्वी

‡Young India 17 2-1927.
§Young India, 18-1-1925.

माना है कि उसने अपने हाथों से काम किया है और वह किसी मनुष्य पर भारस्वरूप नहीं हुआ है। गीता में हमें बतलाया गया है कि "यदि कोई दयालु परमात्मा को अपने परिश्रम का कोई भेट न देकर पृथ्वी से उपजे हुये पदार्थों का उपयोग करता है तो वह चोर ईश्वरीय सृष्टि से चोरी करता है।" इसी प्रकार गांधी जी के लिये भी "कार्य ही अराधना है, और 'एक निठल्ला दिमाग शैतान का कारखाना है'। वे मानते हैं कि मस्तिष्क के ठीक विकास के लिये बुद्धि-मत्तात्मक हस्तश्रम आवश्यक है। मस्तिष्क के संस्कार के लिये हस्त कला कौशल अनिवार्य है। आधुनिक मनोविज्ञान से यह तथ्य काफी तौर से सिद्ध है। बुनियादी तालीम की योजना जो आम तौर पर 'वर्धा-स्कीम' के नाम से प्रसिद्ध है और जिसका सूत्रपात गांधीजी ने किया था 'कार्यद्वारा शिक्षा' के उसी मनोविज्ञानिक नियम पर आश्रित है। अमेरिका के प्रोफेसर ड्यूई ने शिक्षा में इसी नियम के ऊपर जोर दिया है :—

"किसी अन्य तरीके की अपेक्षा व्यवसायों द्वारा शिक्षण के अंतर्गत शिक्षा के लिये सहायक अधिक साधन विद्यमान हैं। इससे प्रवृत्ति और आदत को प्रकट होने का अवसर मिलता है। यह (तरीका) निष्क्रिय ग्रहणशीलता का विरोधक है।"

टॉलस्टाय ने अनुभव से जाना था कि "मस्तिष्क के कार्य को असंभव बनाना तो दूर किनार "शारीरिक श्रम न केवल उसके गुणों को ही बढ़ाता है बल्कि उसको अच्छा बनाता है और उसको सहायता देता है*।" अतः वे यह मानने लग गये थे कि कठिन परिश्रम कोई अभिशाप नहीं किन्तु जीवन का आनन्द पूर्ण कार्य है, क्योंकि उसमें मनुष्य को अधिकाधिक

*What, then, Must we do? p. 340.

स्वस्थ, सुखी, समर्थ और सदय बनाने की शक्ति है। उनके अनुसार शारीरिक श्रम मनुष्य का गौरव था और था उसका पवित्र कर्तव्य और दायित्व। गांधीजी को भी श्रम की इस प्रतिष्ठा में दृढ व अडिग विश्वास है। जैसा सैमुअल स्माइलस का कथन है श्रम एक भार या दंड हो सकता है, किन्तु यह सम्मान व सुयश भी है।" प्रिंस क्रॉपटकिन ने अपने 'अराजकतावादी समुदायवाद' में कहा था—'हमारे लिये श्रम एक स्वभाव है और आलस्य एक बनावटी बढन्त'।

अवकाश का आकर्षण

इसी लिये गांधीजी ज्यादा फुर्सत की चिल्लियों को खतरनाक व अस्वाभाविक मानते हैं :—

"फुर्सत केवल एक हद तक ही अच्छी और आवश्यक है। ईश्वर ने अपने पसीने की कमाई की रोटी खाने के लिये मनुष्य की सृष्टि की थी और जादूगर की पिटारी में से खाद्य सामग्री समेत जो कुछ हमे चाहिये वह सब कुछ पैदा करने की योग्यता होने की संभावना से मैं भय खाता हूँ।"‡

और फिर

"मान लीजिये कि अमेरिका से कुछ लखपति आते हैं और हमारे लिये सारी की सारी खाद्य वस्तुयें भेजने को राजी होते हैं और हमसे विनती करते हैं कि हम काम न करें लेकिन उन्हें अपनी दानशीलता को जाहिर करने की इजाजत दें तो मैं उनकी ऐसी कृपापूर्ण देने को मंजूर करने से साफ इन्कार कर दूँगा खासकर इसलिये कि यह हमारे हस्ती के बुनियादी कानून की जड़ पर कुल्हाड़ी चलाती है।"*

‡Harijan, 16-5-1936.
*Harijan, 7-12-1935.

"बुद्धिमती स्त्री के लिये साम्यवाद व पूँजीवाद की प्रदर्शिका"‡ में बर्नर्डशॉने अवकाश की ससस्या पर कुछ दिलचस्प टीका की है :—

"जो ज़िंदगी को एक लंबी छुट्टी बनाना चाहते हैं, वे मालूम करेंगे कि उन्हें अपने जीवन से भी छुटकारा लेने की ज़रूरत है। निठल्ला बना रहना इतना अस्वाभाविक और जान खाऊ होता है कि तथा कथित 'ठलुये धनिकों' का संसार सबसे ज्यादा थका देनेवाली किस्म की निरंतर चालू क्रियाओं की दुनिया है।"

जैसा कि एक कवि की उक्ति है :—

§"समय काटने की मेहनत ही उसका है केवल एक काम,
वही काम है भीषण उसका थकन क्लेश देता अविराम।"

शॉ भी संकेत करते हैं कि अमीर लोग जिनको काफी फुर्सत रहती है, कुछ भी न करने के बजाय किस तरह 'अपने आपको कुछ न कर सकने लायक बनाये रखने के लिये कुछ-न-कुछ सदा करते ही रहते हैं।" अपनी निराली बर्नर्ड शॉही शैली में वे हमे कहते हैं 'कि लगातार छुट्टी ही छुट्टी नरक की सर्वोत्तम परिभाषा हैं।

वास्तव में जिससे घृणा की जाती है वह श्रम ऐसी कोई चीज नहीं है; लेकिन वह है आत्मा-रहित, नीरस और थका देने वाले काम की वह खास किस्म जिसको कि बड़े बड़े कारखानों में आजकल के मजदूरों को करना पड़ता है। आज की मजदूरी में कोइ आनंद नहीं है इसी लिये ही फुर्सत के लिये यह चिल्लाहट है। गांधीजी के अनुसार 'अवकाश का आकर्षण' एक

---

‡Intelligent Woman's Guide to Socialism and Capitalism

§"His only labour is to kill time,
And labour dire it is, and weary woe."

खतरनाक नैतिक फंदा है क्योंकि उसके समुचित उपयोग की समस्या अवकाश को ढूँढ़ निकालने के प्रश्न से और भी अधिक कठिक होगी और पर्याप्त काम की कमी साधारणतया शारीरिक बौद्धिक और नैतिक क्षीणता को ला देगी।

इसीलिये वे आधुनिक शहरों की दम घोटने वाली और शक्ति का ह्रास करने वाली रोज़ की मज़दूरी की जगह देहाती झोंपड़ियों में स्वास्थ्यप्रद व खुली हवा में काम करने की सिफा-रिश करते हैं।

गांधीजी केवल नैतिक और मनोवैज्ञानिक कारणों से ही शारीरिक श्रम की आवश्यकता और वाँछनीयता पर ज़ोर नही देते हैं। वे हर एक के लिये यथाशक्य स्वयंपूर्ण आग्रह करके आर्थिक शोषण की ठेठ जड़ को ही काट डालने के लिये उत्सुक हैं। वर्तमान आर्थिक अव्यवस्था का कारण दूसरों की कमाई का अन्यायपूर्ण शोषण है, जिसके परिणाम स्वरूप एक ओर तो है—बिना किसी शारीरिक श्रम वाला 'निठल्ला धनिक वर्ग' और दूसरी ओर है अधिक फुर्सत की माँग करने वाला अधिक काम में पिसा हुआ 'मज़दूर वर्ग।' लेकिन अगर हमारे ग्राम्य-मंडल करीब २ स्वयं पर्याप्त हैं जहाँ कि हर एक सहयोग के आधार पर अपनी आजीविका के लिये काम करता है तो वहाँ शोषण के लिये प्रायः कोई स्थान नहीं रहेगा और धीरे धीरे 'बीच खोरों' का खात्मा हो जायगा। गुरुदेव टागोर के सामने यह दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुये गांधीजी ने कहा था, "यह प्रश्न हो सकता है कि मुझे जिसे अपने खाने के लिये कोई काम करने की ज़रूरत नहीं है, कातना क्यों चाहिये? यह इस लिये क्यों कि मैं जो खा रहा हूँ वह मेरा नहीं है। मैं अपने देश वासियों की लूट पर जी रहा हूँ। आपकी जेब में आने वाले प्रत्येक सिक्के की

आमद का ज़रिया ढूँढ़ निकालिये और जो मैं लिखता हूँ उसकी सत्यता आप अनुभव कर लेंगे।"*

उत्तर दिया जा सकता है कि साम्यवादी समाज में इस प्रकार का शोषण संभव नहीं है और इसलिये आदिम कालीन आर्थिक व्यवस्था की ओर प्रत्यावर्तन अनावश्यक है। किन्तु जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है, इस प्रकार की साम्य-वादी योजना में कड़े केंद्रित नियंत्रण की आवश्यकता रहती है जो अवश्य ही व्यक्ति स्वातंत्र्य का दम घोट देता है और मानव व्यक्तित्व के स्वाभाविक विकास को नष्ट कर देता है। इसके अलावा रूसी नमूने के साम्यवादी समाज की स्थापना हिंसा के बगैर नहीं हो सकती है जिसे गांधीजी आश्रय नहीं देते हैं। फलतः गांधीजी (केंद्रीभूत) 'बृहत् उत्पादन' के बजाय 'जन-साधारण द्वारा (विकेंद्रित) उत्पादन' का समर्थन करते हैं। वे कहते हैं कि मेरी प्रणाली में श्रम ही चालू सिक्का है न कि धातु। कोई भी व्यक्ति जो अपने श्रम को उस सिक्के की भाँति काम में ला सकता है, धनी है। वह अपने श्रम को अनाज में बदल लेता है। यदि उसे घासलेटी तेल चाहिये जिसे वह स्वयं पैदा नहीं कर सकता है तो वह अपने बचे हुये अनाजका उप-योग उस तेल को लाने में कर लेता है। यह स्वतंत्र, न्याययुक्त और बराबरी की शर्तों पर श्रम का आदान प्रदान है—इसलिये यह कोई लूट खसोट नहीं है। आप ऐतराज़ कर सकते हैं कि यह तो आदिम 'बार्टर-प्रथा' की ओर प्रत्यागमन है। लेकिन क्या सारा का सारा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार बार्टर-प्रथा पर ही आश्रित नहीं है?‡ इसलिये 'रोटी के लिये श्रम' गांधीजी के लिये एक विश्वास-सिद्धान्त है और उनका आग्रह है कि उनके

---

*Young India, 1-10 1925.

‡Harijan. 2-11-1934.

विचार वाले एक आदर्श समाज में हर एक को प्रत्येक दिन आठ घण्टे काम के लिये पर्याप्त क्षेत्र मिलना चाहिये। आठ घंटे सोना, आठ घंटे काम करना आठ घंटे अन्य सामाजिक और सांस्कृतिक अनुशीलनों में लगे रहने के लिये अवकाश, बस यही उनके अनुसार समय का आदर्श विभाजन है।

मानवीय मूल्य

गांधी अर्थवाद का चौथा मौलिक आधार मूल्यों के माप दंड का परिवर्तन है। कट्टरपंथी अर्थ शास्त्र नैतिक व माननीय मूल्यों को हटा कर द्रव्य तथा भौतिक संपत्ति के मूल्यो पर अनुचित जोर देता रहा है। किन्तु हम पहले ही से 'अर्थात्मक मनुष्य के अंत' का दर्शन कर रहे हैं, और अब आर्थिक आदर्शों की क्रांति अत्यन्त आवश्यक है। फ्रांस के बड़े अर्थ-शास्त्री सिसमांडी की भाँति गांधीजी के अनुसार अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र का सम्बन्ध विच्छेद नहीं हो सकता। जीवन का सर्वाङ्गीण दर्शन समस्त रूप में होना चाहिये :—

"मैं माने लेता हूँ कि मैं अर्थशास्त्र और नीतिशास्त्र के बीच प्रत्यक्ष या और कोई भेद नहीं करता हूँ। जो अर्थशास्त्र किसी व्यक्ति या किसी राष्ट्र विशेष के नैतिक कल्याण में क्षति पहुँचाता है, वह अनीतिकर, और इसलिये पापपूर्ण है। इस प्रकार वह अर्थशास्त्र जो एक देश को दूसरे देश को हड़प करने की इजाजत देता है अनीति पूर्ण है। 'कचूमर निकालने वाली मजदूरी' से बनी चीजों को खरीदना और काम में लाना पापयुक्त है। अमरिका के गेहूँ को खाना और अपने पड़ौस के अन्न के व्यापारी को ग्राहक के अभाव में भूखों मारना पापरूप है। उसी प्रकार 'रीजेंट स्ट्रीट' के नये से नये उमदा किस्म के कपड़े पहनना मेरे लिये अधर्म पूर्ण है जबकि मैं जानता

हूँ कि अगर मैंने पास पड़ोस के कतैयों और बुनकरों द्वारा बना हुआ कपड़ा पहना होता तो उससे मुझे पहनने को मिल जाता और उन्हें खाने और पहनने को।"*

"किसी भी उद्योग धंधे के मूल्य का अंदाजा उसमें लगे हुये लोगों के शरीर, मन और आत्मा पर पड़े प्रभावों की अपेक्षा अकर्मण्य साझेदारों को दिये जाने वाले लाभांशों से कम लगाना चाहिये। वह कपड़ा वास्तव मे मँहगा पड़ता है जो खरीदार के लिये कुछ आने तो बचा देता है पर साथ ही उन पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों के जीवन को भी सस्ता बना देता है जो 'बम्बई की चालों में रहते हैं।"‡

मानवीय मूल्यों पर का यह आग्रह गांधीजी के 'स्वदेशी' के आदर्श का सार तत्व है। उनके अनुसार यह आर्थिक नियम— कि मनुष्य को सबसे अच्छे और सबसे सस्ते बाजार मे ही खरीदना चाहिये—आधुनिक अर्थशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित अत्यन्त 'अमानुषिक' सिद्धांतों में से एक है।

रस्किन ने भी इस विचार की बड़ी कड़ी आलोचना की है:-

"जहाँ तक मुझे विदित है, इतिहास में मनुष्य की बुद्धि के लिये इतना अपमान जनक अन्य कोई भी उल्लेख नहीं है कि राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था के लिये यह व्यापारी सूत्र हितकारी सिद्धांत है अथवा किसी भी परिस्थिति में यह हितकारक सिद्ध हो सकता है कि 'सबसे सस्ते बाजार में खरीदो और सबसे मँहगे में बेचो।' सबसे सस्ते बाजार में खरीदो?—ठीक है, लेकिन तुम्हारा बाजार सस्ता किससे बना? आग लगने के बाद छत के शाहतीरों का कोयला सस्ता हो सकता है और भूचाल के बाद आपकी सड़कों में पड़ी ईंटें भी सस्ती हो सकती

---

*Young India, 13-10-1921.
‡Young India, 6-4-1922.

हैं—किन्तु इसीलिये ही तो अग्निकांड और भूकंप राष्ट्रीय लाभ नहीं हो सकते। बेचो सबसे मँहगे बाज़ार में? हाँ, बिलकुल ठीक, लेकिन तुम्हारा बाज़ार मँहगा किससे बना? तुमने आज अपनी रोटी बहुत अच्छी बेची क्या यह एक मरते हुये आदमी को दी जिसने उसके लिये अपना रहा सहा सब पैसा दे डाला और जिसको अब फिर कभी रोटी की ज़रूरत ही नहीं रहेगी?"*

तथापि पश्चिम में द्रव्य और लाभ ही एकमात्र विचार के विषय माने जाते हैं। यही कारण है कि हमको निर्लज्ज और कठोर शोषण, दर्दनाक बेकारी और 'खूब पीसे गये मज़दूरों के' दर्शन करने पड़ते हैं। जैसा कि प्रो० कुमाराप्पा ने ठीक कहा है:—

"कारखानो मे काम करने वालों का बीमा बनाया जा सकता है किन्तु एक मज़दूर की जीवन रक्षा के लिये शिकागो के माँस भरने वालो की मशीनरी बन्द नही की जा सकती थी।"‡

गांधीजी के लिये 'मनुष्य' सर्वोपरि विचार का विषय है। और 'जीवन द्रव्य से बड़ा है।' "अपने बूढ़े माता-पिता को, जो कोई काम नहीं कर सकते और जो हमारी अल्प आमदनी में बाधा स्वरूप हैं, मार डालना सस्ता काम है। अपने बच्चों को जिनका पालन-पोषण बदले में किसी लाभ की प्राप्ति के बिना हमें करना पड़ता है, मार डालना भी सस्ता सौदा है। लेकिन हम न तो अपने माँ-बाप को मारते है और न अपने बच्चों को, प्रत्युत, उनके भरण पोषण को अपना सौभाग्यपूर्ण स्वत्व समझते हैं—चाहे उनके भरण पोषण में हमे कितना ही क्यों न खर्च करना पड़े।"§

---

*Unto the last.
‡Why the Village Movement, p. 10.
§Harijan, 10 12-38.

अपने अर्थशास्त्र के आदर्शों को स्पष्ट करते हुये गांधीजी कहते हैं:—

"खद्दर का अर्थशास्त्र साधारण अर्थशास्त्र से बिलकुल भिन्न है। दूसरे में मानवीय तत्व को कोई स्थान नहीं, जब कि पहले का सम्बन्ध ही उसी से है।"*

"खादी भावना का अर्थ पृथ्वी के प्रत्येक मनुष्य के साथ हमदर्दी है। इसका अभिप्राय उस प्रत्येक वस्तु का पूर्ण परित्याग है जो हमारे साथ के प्राणियों को नुकसान पहुँचाने की संभावना रखती हो।"‡

"खादी मानवीय मूल्यों का प्रतिनिधित्व करती है और मिल के कपड़े केवल धात्विक मूल्य का।"§

इस प्रकार सादगी, अहिंसा, श्रम-पवित्रता और मानवीय मूल्यों की चार आधार शिलाओं पर गांधीजी अपने विकेंद्रित-घरेलू-उद्योग धंधावाद और स्वयंपूर्ण ग्राम्य-मंडलियों की आदर्श अर्थ-व्यवस्था की 'इमारत' खड़ी करते हैं। भारतीय अवस्था के विशेष उल्लेख के साथ मैं आगामी परिच्छेद में विकेंद्रीकरण के अभिप्राय और उसकी अनुद्भूत शक्ति का विशद विवेचन करूँगा।

---

*Harijan. 9-2-1934.
‡Young India. 22-9-1927.
§Harijan. 16 7-1931.

ग्राम समुदायवाद

अति प्राचीन काल से भारत ग्राम मंडलों या ग्राम पंचायतों का देश रहा है। यह "दावा" किया जाता है कि गंगा और यमुना के बीच की जगह को आबाद करने के समय पहले पहल राजा पृथु ने इस प्रणाली का प्रचलन किया था। महाभारत के 'शांति पर्व' और 'मनुस्मृति' में भी इन ग्राम-संघों के अस्तित्व का निश्चित उल्लेख है। कौटिल्य ने भी जिनका जीवन काल ईसा से ४०० वर्ष पूर्व है, अपने अर्थशास्त्र में इन ग्राम-मंडलों का वर्णन किया है। वाल्मीकि रामायण मे 'जनपद' का लेख है जो शायद एक प्रकार का अनेकों ग्राम-प्रजा-तंत्रो का संघसा था। यह भी सुनिश्चित है कि यूनानी आक्रमण के समय इस देश में यह प्रणाली विस्तार रूप से प्रचलित थी और मैग-स्थनीज ने इन पंचायतों का जिन्हें उसने 'पेंटाइस' कहा था एक सजीव चित्र छोड़ा है। चीनी यात्री ह्युएनसांग और फाहियान हमें बताते हैं कि उनके यहाँ आने के समय में भारत किस प्रकार 'अत्यन्त उपजाऊ' था और उसके निवासी अनुपम रूप में 'समृद्ध' और 'सुखी' थे। शुक्राचार्य के 'नीतिसार' में इन पंचायतों का मध्य कालीन वर्णन मिलता है।

भारतीय ग्राम मंडल

ग्राम मंडल जो समूचे भारत में छोटे-छोटे स्वशासित लोक-तंत्र थे, हिंदू और मुसलमानी सल्तनतों में खूब बढ़ी-चढ़ी हालत

में थे, और वे साम्राज्यों की तबाही और राजवंशों के विनाश के बाद भी जीवित रहे थे। यहाँ तक कि ईस्ट इंडिया कंपनी की 'रहस्य समिति' ने भी सन् १८१२ में कहा था :—

"इस देश के निवासी 'जनपदीय स्वायत्त शासन' के इस सीधे साधे ढंग के अन्दर बहुत पुराने ज़माने से रहते हैं। राज्यों के विभाजन व टूट जाने से वे अपने आपको विचलित नहीं पाते हैं। जब तक ग्राम समग्र रूप में है उन्हें चिन्ता नहीं कि वह कौन सी शक्ति के पास पहुँचा है अथवा वह किस शासक का हस्तांतरित हुआ है। उसकी आंतरिक अर्थ व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं होता है।"

सर चार्ल्स ट्रेवलिन आलोचना करते हैं कि "एक के बाद दूसरे विदेशी विजेता ने भारत पर धावा बोला है किन्तु ग्राम जनपालिकायें अपने निजी कांस की तरह ज़मीन पर जमी रही हैं।" सन् १८३० के अपने मशहूर स्मरण-लेख में उस समय के भारत के कार्यवाहक गवर्नर जनरल सर चार्ल्स मेटकाफ ने इन ग्राम्य मंडलों का वर्णन लगभग अपने आप में सर्व वस्तु संपन्न और प्रायः बाह्य सम्बन्धों से स्वतंत्र छोटे छोटे प्रजातंत्रों के रूप मे किया है—

"जहाँ और कुछ नहीं ठहरता वहाँ ये टिकते मालूम होते हैं।.........मेरा खयाल है कि हर एक को एक अलग छोटे राज्य का रूप देते हुये ग्राम्य-मंडलों के संघ ने क्रांति और परिवर्तनों के आघातों के बीच किसी अन्य कारण की अपेक्षा भारत के लोगों की रक्षा करने में अधिक योग दिया है और यह एक बड़ी मात्रा में उनके सुख और स्वाधीनता व स्वतन्त्रता के बड़े अंश के आनन्द के लिये हितकारक है। अतएव मैं चाहता हूँ कि इन ग्राम मंडलों के विधानों में कभी कोई बाधा न हो और मैं

ऐसी हर एक चीज से भय खाता हूं जिसमें उनके तोड़ने की प्रवृत्ति हो।"

लेकिन यह होने वाला नहीं था। मालगुजारी को हद दर्जे तक बढ़ा देने की भारी चिन्ता ने ईस्ट इंडिया कंपनी को संपूर्ण ग्राम मंडल के बजाय अलग-अलग प्रत्येक किसान के साथ सीधा बंदोबस्त करने के लिये प्रलोभन दिया। न्याय और शासन-प्रबन्ध सम्बन्धी समस्त शक्तियों को अपने हाथों में केंद्रीभूत करने की उतनी ही अनुचित चिंता ने अँग्रेज शासकों को गाँव के कर्मचारियो को व्यवहार मे हटा देने और इस प्रकार उनको अपनी अतीत कालीन शक्तियों से वंचित कर देने के लिये प्रवृत्त किया। इसलिये शनैः शनैः इन ग्राम प्रजातंत्रो का पतन हो गया। जैसा कि अपने 'भारत के आर्थिक इतिहास* में आर. सी. दत्त कहते हैं:—"भारत मे अँग्रेजी राज्य के अत्यन्त दुःखद परिणामों में से एक उस ग्राम स्वायत्त शासन की प्रणाली का सफ़ाया है जो पृथ्वी के समस्त देशों में से हिंदुस्तान मे सबसे पहले समुन्नत हुई और जो सबसे अधिक काल तक यहाँ सुरक्षित रही।"

यह जानना रुचिकर है कि कार्ल मार्क्स का भी ध्यान हिन्दुस्तान के इन ग्राम प्रजातंत्रों की ओर गया था। अपने 'डास कापीटल' मे वे कहते हैं, "छोटे और अत्यन्त प्राचीन भारतीय ग्राम मंडल, जिनका अस्तित्व अब भी कुछ अंश में मौजूद है, जमीन के सामूहिक स्वामित्व और दस्तकारी व हस्त-कृषि के सीधे पारस्परिक सम्बन्ध और श्रम विभाग के उस स्थायी प्रकार पर आश्रित हैं जिसका उपयोग एक बनी बनाई

---

*Economic History of India.

Das Capital.

योजना के रूप में जब कभी भी नये ग्राम मंडलो की स्थापना होती है, किया जाता है। वे स्वयंपूर्ण उत्पादक हस्तियों को निर्माण करते हैं और (वहाँ) एकसौ से कई हज़ार एकड़ तक ज़मीन के विस्तार के क्षेत्रफल को लेते हुये पैदावार की जाती है। उपज का अधिक हिस्सा जिन्स के रूप मे नहीं बल्कि समाज की तात्कालिक ज़रूरतों को पूरा करने के लिये उत्पन्न किया जाता है और इसलिये उत्पादन स्वयं श्रम-विभाग से स्वतंत्र है जिसको भारतीय समाज में भी वस्तुओ के विनिमय ने ला दिया है।..................हमें भारत के विभिन्न भू-भागों में ऐसे मंडलों के भिन्न भिन्न रूप मिलते हैं। सादे से सादे रूप में ज़मीन की खेती सामुदायिक रूप में होती है और उसकी उपज मंडल के सदस्यो में बांट ली जाती है, जबकि प्रत्येक कुटुम्ब बुनाई कताई आदि को एक सहायक धन्धे के रूप में करता है। इन स्वयं पर्याप्त मंडलों की उत्पादन सम्बन्धी सादगी हमारे लिये एशियाई समाज की अपरिवर्तन शीलता के रहस्य का उद्घाटन करती है जिसका एशियाई राज्यों के लगातार नाश और पुनर्रचना और राजवंशों के निरन्तर उलट फेर के साथ बड़ा वैषम्य है। (इसमें) राजनैतिक वातावरण के तूफानों से समाज के आर्थिक मूलतत्वों का ढांचा अप्रभावित रहता है।"

"पूरब और पश्चिम के ग्राममंडल* नाम की अपनी पुस्तक में सर हेन्री मैन निर्देश करते हैं कि "भारतीय ग्राममंडल एक जीवित संस्था भी मरी हुई नहीं" और यह कि 'भारतीय और प्राचीन यूरोपीय ग्राम मंडलों की प्रणालियाँ सारी आवश्यक विशेषताओं में एक समान थीं'। सर हेन्री कहते हैं कि 'यह एक बड़ी आश्चर्य जनक बात है कि सबसे पहले उत्तरी अमरीका

*Village Communities ; in the East and West.

में जा बसने वाले अंग्रेजों ने पहले पहल खेती करने के उद्देश्य से ग्राम मंडलों के रूप में अपना संगठन बनाया था'। प्रिंस क्रोपटकिन ने अपनी मार्के की पुस्तक 'पारस्परिक सहायता'* में पश्चिम के इन मंडलों के—विशेषकर रूस, जर्मनी, फ्राँस और स्वीज़रलैंड के—ऐतिहासिक अध्ययन को पर्याप्त स्थान दिया है। उन्होंने संकेत किया है कि यह स्वयं पर्याप्त संगठन प्राकृतिक विकास-क्रम के परिणाम स्वरूप लुप्त नहीं हुये बल्कि 'निर्दिष्ट स्वार्थों द्वारा समझ बूझ कर तरकीब के साथ उनको उखाड़ फेंक दिया गया था—

"संक्षेप में, आर्थिक नियमों की शक्ति द्वारा इन ग्राम मंडलों की मृत्यु को स्वाभाविक बताना उतना ही कठोर मज़ाक है जितना कि यह कहना कि रणक्षेत्र मे क़त्ल किये सिपाहियों की मौत स्वाभाविक तौर पर हुई है।"

प्रिंस क्रोपटकिन का यह कथन हमारे अपने देश के संबंध में कितना उपयुक्त है इससे भारत के आर्थिक इतिहास के विद्यार्थी बहुत ही भले प्रकार से परिचित हैं।

सरकारी "अ-हस्तक्षेप की नीति" तथा 'एक तंत्रीय नियंत्रण' इन दोनों की चरम सीमाओं से बचते हुये भारतीय ग्रामों ने एक सुसंतुलित सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक पद्धति का विकास किया था। उन्होंने सहकारी कृषि और सहयोग-व्यवसाय के आदर्श स्वरूप की उन्नति की थी जिसमें कि धनी के द्वारा ग़रीब को लूटने की गुंजायश, यत्किंचित ही थी। जैसा कि गांधीजी लिखते हैं कि "उत्पादन, उपभोग तथा वितरण करीब करीब साथ ही होता था और "द्रव्य-व्यवस्था" के दूषित चक्र का सर्वथा अभाव था। उत्पादन तात्कालिक उपयोग के लिये

*Mutual Aid by Prince Kroptkin.

था न कि दूरवर्त्ती बाज़ारों के लिये। सपूर्ण सामाजिक ढाँचा अहिसा और पारस्परिक सहानुभूति पर आश्रित था। यही कारण है कि गाँधीजी समृद्ध कृषि, कलापूर्ण और विकेंद्रित उद्योग-धंधों और छोटे पैमाने के सहकारी संगठन के समेत प्राचीन ग्राम मंडलों के पुनरुद्धार का ज़ोरों से समर्थन करते रहे है।

आदर्श लोकतंत्र

राजनैतिक संगठन के दृष्टिकोण से ये 'ग्राम्य-प्रजातंत्र' लोकशाही के आदर्श रूप थे। जॉन स्टुअर्ट मिल ने लिखा था कि "सिर्फ वही सरकार जिसमे कि सारी प्रजा भाग लेती है, एक ऐसी है जो 'साम्यवादी राज' की समस्त आकस्मिक आवश्यकताओं को संपूर्ण रूप से पूरा कर सकती है। यूरोप में सच्ची लोकशाही की इस कसौटी पर यूनानी नगर-राज्यों को बहुत अंश में पूर्ण सफलता मिली थी जिनमें सब कार्यों के लिये सर्वोच्च सत्ता नागरिकों की संपूर्ण मंडली के सुपुर्द थी। लार्ड ब्राइस कहते हैं कि "वह मंडली एक साथ ही राष्ट्र परिषद तथा सरकार थी और थी एक मे ही प्रबंध कारिणी, व्यवस्थापिका एवं न्यायकर्त्री"। "यूनानी प्रजातंत्र के छोटे आकार ने लोकप्रिय सभा में मताधिकार रखने वाले समस्त लोगों के बहुमत को एक आवाज़ में सुन सकना आसान कर दिया और प्रत्येक मनुष्य को उन लोगो के वैयक्तिक गुणों के बारे मे राय क़ायम करने का अधिकार दे दिया जो नेतागिरी या पद के लिये आकांक्षा रखते थे"‡। यूनानी नगर-राज्यों की भाँति प्राचीन भारतीय ग्राम पंचायतें भी अपना आंतरिक शासन आसानी और सामंजस्य के साथ चलाती थीं क्योंकि "जो (चीज़) सबसे संबंध रखती

‡Modern Democracies, p. 187

थी उसका फैसला सबके द्वारा होता था।" अन्याय और धोखेबाज़ी के लिये क़रीब क़रीब कोई स्थान न था। पश्चिम मे लोकतंत्र विशेषकर इसलिये असफल रहा कि बड़े बड़े निर्वाचन-क्षेत्रों की स्थिति ने सच्चे प्रकार के प्रति-निधियों का चुना जाना असंभव बना दिया है और नेताओं और जन साधारण के बीच घनिष्ट संबंध का अभाव है। अतएव आधुनिक लोकशाही के सुधार के लिये जो भिन्न भिन्न हल सुझाये गये हैं वे विकेंद्रीकरण और क्षेत्र-संकुचन की अत्यंत आवश्यकता पर जोर देते है। मज़दूर-संध-वाद, संघ-साम्यवाद और अराजकता वाद—ये सब दूसरे मुद्दों पर चाहे कितने ही भिन्न हो, छोटी स्थानीय इकाइयों के संगठन करने के महत्व पर जोर देने मे एक मत हैं। प्रोफेसर जोड़ कहते हैं :—

"यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि सामाजिक कार्य में मनुष्यों के विश्वास को पुनरुज्जीवित करना है तो राज्य को छोटे छोटे टुकड़ों में बाँट देना और उनके कार्यों को विभक्त कर देना आवश्यक है। व्वक्ति के लिये यह संभव बना देना ज़रूरी है कि उसका संबंध उत्पादन और स्थानीय शासन दोनों को चलाने वाली व्यवस्था की शक्तियों से युक्त भिन्न भिन्न छोटी सभाओं से हो जिनके सदस्य के रूप में उसे एक बार फिर से मान हो सके कि उसका राजनैतिक महत्व है, उसकी इच्छा-शक्ति का मूल्य है और उसका कार्य वास्तव मे समाज के लिये है।..........तो ऐसा मालूम होगा कि सरकार की मशिनरी के आकार को कम कर दिया जाय। उसे स्थानीय बनाकर उसका प्रबंध किये जाने योग्य बनाना ज़रूरी है ताकि अपनी राजनैतिक मेहनतों के ठोस नतीजों को अपने सामने देखते हुये मनुष्यों की समझ में ये बैठ जाय कि जहाँ शासन एक सत्य है, समाज

उनकी इच्छाओ के अनुरूप शास्य है क्योंकि समाज वे स्वयं हैं।" ।*

डॉक्टर बूडिन का भी विचार है कि "घनिष्ट रूप से जुड़े हुये छोटे प्रजातंत्र ही सभ्यता की सच्ची नैतिक इकाइयाँ हैं।‡

यंत्रीकरण की बुराइयाँ

राजनीतिक लोकशाही के विचारो के अतिरिक्त भारत में ग्राम मंडलों के पुनरुज्जीवन का गांधीजी सरगर्मी के साथ समर्थन करते हैं क्योकि उन्हें बड़े पैमाने के यंत्रो द्वारा और केंद्रित उत्पादन से नफरत है जो मनुष्यों को सिर्फ कल के पुर्जे बनने की ओर प्रवृत्त करता है और उनकी श्रेष्ठ मानवीय भावनाओं को उनसे निकाल फेंकता है। यह संकेत किया जा सकता है कि बड़ी मात्रा के यंत्रीकरण की भर्त्सना करने मे गांधीजी अकेले ही नहीं हैं। यहाँ तक कि आधुनिक 'राजनैतिक अर्थवाद' के पिता आदम स्मिथ को भी, जिन्होने वैसे तो वर्तमान उद्योगों में श्रम-विभाजन को अनुकूल स्वीकार किया है, यह मानना पड़ा है कि वह मनुष्य जिसकी सारी ज़िदगी कुछेक सादे कामो को करने में बीत जाती है साधारणतया उतना मूर्ख और अनाड़ी बन जाता है जितना कि एक मनुष्य-प्राणी के लिये संभव है।§ उसके एक सी दशा वाले जीवन की समरूपता उसकी दिमागी हिम्मत को स्वभावत: विकृत कर देती है।........अपने निजी खास काम में उसकी होशियारी इस तरह से उसके बौद्धिक, सामाजिक और साहसिक गुणो को तिलांजलि देकर पैदा की हुई मालूम होती है। "डेविड रिकार्डो को भी विश्वास हो गया था कि "मानवी श्रम की जगह पर कल पुर्जों का स्थापन श्रमिक

*Modern Political Theory, pp. 120 121.

‡Social Psychology.

§Wealth of Nations.

वर्ग के हितों के लिये बहुधा बहुत हानिकर है।" "यह राय पूर्व पक्षपात या त्रुटि पर आधारित नहीं है बल्कि राजनैतिक अर्थवाद के सत्य सिद्धांतो के सानुकूल है।"* कार्ल मार्कस का कथन है कि "श्रम विभाग और मशीनरी के विस्तार युक्त उपयोग के कारण 'निर्धन श्रमजीवो वर्ग' के काम में व्यक्ति के संपूर्ण आचरण का और परिणामतः कारीगर के लिये सब रस का लोप हो गया है।" "वह मशीन का पुछल्ला हो जाता है।‡ अपनी 'दास कैपिटल' में कार्ल मार्क्स स्वीकार करते हैं कि माल तैयार करने के आधुनिक तरीके 'श्रमिक को पंगु बना डालते हैं और साथ ही एक दुरवृत्त राक्षस। इसके विपरीत स्वतंत्र किसान या कारीगर ज्ञान, अंतर दृष्टि और सद्वृत्ति को बढ़ा लेता है।" प्रिंस क्रोपटकीन कहते हैं, "कौशल-पूर्ण दस्तकारी भूतकाल का अवशेष मानी जाकर दूर हटायी जा रही है जो कि निकम्मा समझा जाकर लुप्त होने वाला है।" "वह कलाकार जिसे पहले अपने हाथ के काम मे लालित्यपूर्ण आनंद की प्राप्ति होती थी एक लौह निर्मित गुलाम (मशीनरी) के मनुज दास के रूप में परिणत होता जा रहा है।§ मैरी सदरलेंड संकेत करती हैं कि "आधुनिक फेक्टरी के काम से प्रत्येक क्रियात्मक शक्ति कुंठित हो जाती है और (वह) काम करने वालों में अपने अवकाश के समय में यंत्रों द्वारा बने हुये मनोरंजक पदार्थों के सिर्फ निष्क्रय उपभोक्ता बने रहने मात्र की ताक़त छोड़ता है।" "यह केवल कारखानों में काम की अवस्थाओं का ही प्रश्न नहीं है किन्तु है, वहाँ पर किये जाने वाले अधिकतर काम की हालत का।"¶

---

*Principles of Political Economy.

‡Communist Manifested.

§Fields, Factories and Workshops.

¶Victory or Vested Interest.

आदम स्मिथ के ज़माने से आधुनिक काल तक आलपिन बनाने का इतिहास-चित्र देते हुये बर्नर्डशा अपनी 'बुद्धिमती स्त्री के लिये साम्यवाद और पूँजीवाद की प्रदर्शिका'§ में कहते हैं :—

"यह कहा जाता है कि मनुष्य एक दिन में लगभग पांच हज़ार पिन तैयार कर सकता था और इस तरह आलपिनें बहुत ज़्यादा और सस्ती हो गईं थीं। देश को अधिक धनी माना जाने लगा क्योंकि उसके पास पिनें अधिक हो गईं हालांकि उसने समर्थ मनुष्यों को सिर्फ़ मशीनों के रूप में बदल डाला जो बग़ैर बुद्धि के अपना काम करते हैं और जिस तरह एक एंजिन में कोयला और तेल दिया जाता है उसी तरह पूँजीपति के बचे खुचे भोजन से उन्हें खाने को दिया जाता है। यही कारण था कि कवि गोल्ड स्मिथ ने जो एक दूरदर्शी अर्थशास्त्री और साथ ही एक कवि था, शिकायत की थी कि 'धन की अभिवृद्धि होती है और मनुष्य की अवनति होती है।

अपने 'औद्योगिक संगठन के विकास में प्रो० शील्डज स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि "वैज्ञानिक प्रबन्ध के आधुनिक तरीकों से अधिकतर योग्यता और बड़ी मात्रा की उत्पत्ति को तो प्रोत्साहन मिलता है किन्तु मज़दूरों से काम लेने के अधिक वेग या उनकी थकावट के लिये कोई कारगर रोक थाम नहीं है।" "अत्यन्त विशिष्टीकरण की आधुनिक प्रवृत्ति गहरी हो रही है और काम करने वाला सब विचार शक्ति, प्रारम्भिक सूझ और अपने काम में प्राप्ति और आनन्द की भावना से वंचित हो जाता है।" मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से अर्नेस्ट हन्ट मर्मस्पर्शी टीका करते हैं:—

---

§Intelligent woman's Guide to Socialism and Capitalism.

"हम शक्ति की असाधारण वृद्धि का दर्शन कर रहे हैं जो कि कारीगरों को एक निरानन्द यंत्र-जाल में कल पुर्जे बना देने की ओर झुकती है। जबकि पुराने ज़माने में कारीगर को अपने काम के रचनात्मक तत्व में आत्म-गर्व था जिसे कि वह बहुत करके अपने घर या कारखाने में किया करता था, वही आज फेक्टरी में शून्यवत् बन गया है जिसे शायद 'नम्बर' से ही जाना जाता है, नाम तक से भी नहीं।"

वर्तमान उद्योगवाद की पद्धति में ये बुराइयाँ अन्तर्निहित हैं और कोरा साम्यवाद उनका मूलोच्छेद नहीं कर सकता। कार्ल मार्क्स ने इन बुराइयों को बहुत ही साफ तौर पर जान लिया था, किन्तु आशा की थी कि एक समुदायवादी राज्य में वे नहीं रहेंगी। लेकिन अत्यधिक युक्ति सिद्ध यंत्रवाद, चाहे वह पूँजीवादी या साम्यवादी किसी भी राज्य मे हो, निश्चय ही मज़दूरों के शारीरिक, चारित्रिक और बौद्धिक स्वास्थ्य पर हानिकारक प्रभाव डालेगा। जैसा कि बोरसोडी 'इस भोंड़ी सभ्यता'* नाम की पुस्तक में कहते हैं:—"उत्पादन और वितरण के निजी स्वामित्व के हटाने से शोषण को टालने की बात रोग की जड़ तक नहीं पहुँचती। फेक्टरियों से अविच्छेद्य गुण मानव जाति को पीडित करने को फिर भी रहेंगे। कारखानों का साम्यवादी या कर्म विशिष्ट समाजीकरण कभी भी उस काल्पनिक सुख-लोक की सृष्टि नहीं करेगा जिसके लिये बहुत से आदर्शवादी कार्यरत हैं। उपचार के रूप में साम्यवादी समाजीकरण असफल रहेगा क्योंकि यह उस असली बीमारी की चिकित्सा नहीं करता है जिसे कि (फेक्टरी पद्धति) ने मानव जाति पर लाद दिया है। इसका असफल होना

*This Ugly Civilization.

अवश्यंभावी है क्योंकि इसके पास योग्यता के लिये पीड़ित मनुष्य जाति के लिये कोई शान्ति की औषधि नहीं है।

यही विचार महात्मा गांधी का है:—"पंडित नेहरू औधोगीकरण चाहते हैं क्योंकि उनका विचार है कि अगर इसको साम्यवादी बना दिया जाता है तो यह पूँजीवाद की बुराइयों से बच जायगा। मेरा निजी विचार है कि उयोग वाद में बुराइयाँ अन्तर्निहित हैं और कितना ही साम्यवादी करण उनको उखाड़ नहीं सकता।"*

मशीनरी के प्रति गांधीजी का रुख

तथापि यह साफ समझ लेना होगा कि गांधीजी सब यंत्रों के खिलाफ नहीं है। उनका कहना है कि 'मशीनरी ऐसी वस्तु पर चक्र चलाने का मेरा इरादा नहीं है। चरखा खुद ही एक छोटी-सी मूल्यवान मशीनरी है। उनका ऐतराज़ 'मशीनरी के प्रति सनक' और इसके 'विचारहीन गुणन-विस्तार' के प्रति लक्षित है। इसलिये वे मशीनरी को खत्म करने की इच्छा नहीं करते बल्कि उसको एक सीमा में बाँध देना चाहते हैं। गांधीजी ऐसी मशीन का स्वागत करेंगे जो झोपड़ों मे रहने वाले करोड़ों मनुष्यों के बोझ को हलका करती हैं। किन्तु ऐसी मशिनरी की तरफ से उन्होंने अपना मुँह मोड़ रखा है जो मनुष्यों को 'यंत्रवत् व्यक्ति' बना देती है और फलतः मानव श्रम पर कब्जा कर बैठती है।

"यंत्रीकरण अच्छा है जबकि इरादा किये हुये काम की पूर्ति के लिये आदमी अत्यन्त कम हैं। वह एक खराबी है जब कि काम के लिये आदमी आवश्यकता से अधिक हैं जैसी कि दशा हिंदुस्तान में है।…… हमारे गाँवों में बसने वाले

---

*Harijan, 29-9-1940.

लाखों करोड़ों आदमियों के लिये फुरसत कैसे निकाली जाय—यह प्रश्न हमारे सामने नहीं है। प्रश्न यह है कि उनके खाली समय का उपयोग किस प्रकार हो जो प्रत्येक साल में छह महिनों के काम वाले दिनों के समय के बराबर हैं।"*

वे कहते हैं "भारत के सात लाख गाँवों में बिखरे हुये ग्रामीणों के रूप में करोड़ों सजीव मशीनो के मुकाबले में निर्जीव मशीनरी को स्थान नहीं देना चाहिये। उनको ऐसी मशीनरी का कोई भी लिहाज़ नहीं हो सकता जिसका अर्थ बहुतेरों की कमाई के बलपर कुछेक को धनी बनाना है।"

गांधीजी वैज्ञानिक आविष्कार और मशीनरी के सुधार के विरोधी नहीं हैं। "सब की भलाई के लिये किये गये प्रत्येक आविष्कार का मैं आदर करूँगा।" एक छोटी मशीन की वह उन्नति जो घरेलू उद्योग धंधों की कार्य क्षमता को बढ़ाती है और जिसे आदमी बिना उसका गुलाम बने चला सकता है, स्वागत करने योग्य है। लेकिन वे आधुनिक 'श्रम-बचाव की युक्तियों की तीव्र सनक' के पक्ष में नहीं हैं।

"आदमी तब तक श्रम बचाते चले जाते है जब तक हज़ारों बे रोज़गार हो जाते हैं और भूखों मरने के लिये खुली सड़कों पर फेक दिये जाते हैं। मैं समय और श्रम बचाना चाहता हूँ मानव जाति के एक छोटे हिस्से के लिये नहीं, किन्तु सब के लिये। मैं संपत्ति का संग्रह चाहता हूँ—कुछ लोगों के हाथों में नहीं किन्तु सबों के हाथो में। आज लाखों के ऊपर सवार होने के लिये मशीनरी केवल कुछेक को मदद पहुंचाती है। इस सब के पीछे की प्रेरणा श्रम को बचाने की पुण्य-भावना नहीं,

---

*Young India, 13-11-1924.

अपितु लोभ है। यह वह वस्तुस्थिति है जिसके विरुद्ध मैं अपनी संपूर्ण शक्ति से ज़ोर लगा रहा हूँ।"*

बेकारी

युरोप और अमेरिका में यंत्रीकरण जरूरी था क्योंकि उन देशों में पूंजी बहुत थी लेकिन वहाँ मजदूरों के अभाव का दुःख था। अपने प्राकृतिक साधनों को पूर्ण रूप से बढ़ाने और उन्हें काम में लाने के लिए उन्हे यंत्रों का सहायतार्थ आह्वान करना पड़ा। लेकिन हिन्दुस्तान की हालत पश्चिमी देशों की अवस्थाओं के ठीक विपरीत है। यहाँ पूँजी की कमी है और श्रम की बहुतायत। इसलिये हमारे सामने 'श्रम-बचावक युक्तियों' के आविष्कार करने का प्रश्न नहीं है; किन्तु प्रश्न है उन लोगों को रोजगार देने का जो कि जबरन लादे गये आलस्य के भारी बोझ के नीचे कुचले जा रहे हैं। पश्चिम में भी उचित सीमाओ के पार ले जाने से मशीन ने अपनी उपयोगिता खो डाली है। अब तो वह एक विपत्ति और संकट का रूप धारण कर चुकी है। मशीन ने लाखों लोगों को बेरोजगार बना डाला है जिनको ख़ैरात के ऊपर जीवन बसर करने का निम्नकोटि का अपमान सहना पड़ता है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका ने यंत्रीकरण को मानव मस्तिष्क द्वारा सोची जा सकने वाली पूर्णता की चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। संयुक्त राष्ट्र के लोगों की उत्पादन शक्ति संसार के चौदह अन्य अग्रणी देशों के बराबर है और उसकी अपेक्षाकृत 'फीकस पैदावार' हिन्दुस्तान से पचीस गुनी है। तिसपर भी अमेरिका में लाखों आदमी बेकार हैं। यही संसार के अन्य औद्योगिक देशों के बारे में सच है। मैं 'राष्ट्रसंघ की १९३९-४० की अंक संम्बन्धी वार्षिक पुस्तक' से बेकारी के निम्न आँकड़े उद्धृत करता हूँ :—

*Harijan, 13-11-1934.

	१९३५	१९३९
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	७,४५०,०००	६,२४०,०००
ग्रेट ब्रिटेन (संयुक्त)	१,७३०,१९४	१,२९८,८०१
जर्मनी	३,४८८,६७५	२८४,१३२
फ्रांस	४६५,८७५	४०४,६०४
जापान	३५६,०४४	२३७,३७१

भारतवर्ष में १९३१ की जन-गणना से प्रकट है कि आधे रोजगार-प्राप्त लाखों ग्रामीणों के अलावा जो या तो भूमि-रहित हैं या जिनके पास 'घाटे के खेत' हैं और भी कम से कम दो करोड़ आदमी बिल्कुल बेकार हैं। पश्चिमी आदर्शों के अनुसार मैं समझता हूँ कि हिन्दुस्तान की आधी आबादी को बेकार मान लेना चाहिये। जैसा कि सुविदित है कि अपने देश के ९० प्रतिशत लोग कृषि और सहायक धंधों में लगे हैं, १०% उद्योग-धंधो मे, जिनमें से केवल २० लाख के क़रीब बड़े पैमाने के उद्योग-धंधो में काम करते हैं। यदि ये सारे के सारे उद्योग-धंधे देश की तमाम जरूरतों की पूर्ति के लिये और भी समुन्नत कर दिये जायँ तो भी वे संम्पूर्ण आबादी के ५% से अधिक को काम में न लगा सकेंगे।

छोटी मात्रा के उद्योग-धंधों मे लगे हुए काम करने वालों की संख्या बड़े पैमाने के उत्पादन में काम करने वालों से पाँच गुनी है। डा० व्ही० के० आर० व्ही० राव के आँकड़े इस प्रकार हैं:—

(हज़ारों में)

मजदूरों की संख्या

बड़ी मात्रा के उद्योग-धंधों मे	१४८२
छोटी ,, ,, ,,	२२८
घरेलू उद्योगो में	६१४१

इस सम्बन्ध में भारतीय वस्त्र-व्यवसाय के उद्योग-धंधों में लगे हुए मजदूरों और खादी की तैयारी में लगे हुए कार्य-कर्त्ताओं के आँकड़ों की तुलना रुचिकर होगी। १६४३-४४ के भारत के 'अब्द-कोष' के अनुसार अंग्रेज़ी भारत और भारतीय रियासतों में रुई के कपड़े के कारखानों में प्रति दिन काम करने वाले आदमियों की औसत संख्या १६४० की साल में ४,३०,१६५ थी। जब कि अखिल भारतवर्षीय चरखा संघ के अंक बताते हैं कि सिर्फ संघ द्वारा संचालित खादी के काम में ही उस साल के कतैयों व बुनकरों की पूरी सख्या २,६६,४४५ थी। इसके अलावा लगभग एक करोड़ और 'करघा बुनकर' सारे देश मे बिखरे हुए थे। यद्यपि भारत में गत ३० वर्षों में फैक्टरियों की संख्या मे लगभग चौगुनी वृद्धि हुई है तथापि उद्योग-धंधों में काम करने वालों की प्रतिशत संख्या कुल आबादी को देखते हुए नियमित रूप से घटती रही है :--

वर्ष		फी सैकड़ा
१६११	...	५.५
१६२१	....	४.६
१६३१	...	४.३
१६४१	....	४.२

ये आँकड़े यह बताने के लिए पर्याप्त हैं कि सिर्फ बड़ी मात्रा का भारतीय औद्योगीकरण चाहे उसकी क़िस्म पूँजीवादी हो अथवा साम्यवादी, उसकी बेकारी की समस्या को हल नहीं कर सकता है। यह मुख्य कारणों में से एक है जिससे कि गांधीजी पश्चिमी तरीक़ों पर हिन्दुस्तान के औद्योगीकरण की योजनाओं के साथ कोई सरोकार नहीं रखना चाहते हैं।

वितरण की समस्या

बेकारी की समस्या के अतिरिक्त वितरण की दृष्टि से भी गांधीजी घरेलू उद्योग-धंधावाद के पक्ष में हैं :—

"एक क्षण के लिये यह मान लें कि मानवजाति की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति मशीनरी कर सकती है तो भी वह उत्पत्ति को विशेष क्षेत्रों में केंद्रित कर देगी जिससे कि वितरण को नियंत्रित रखने के लिए एक पेंचीदे रास्ते का आश्रय लेना होगा। जब कि यदि उत्पादन और वितरण दोनों ही अपने-अपने क्षेत्रों में हों जहाँ वस्तुओ की ज़रूरत है तो वह स्वयं नियंत्रित रहेगा और (उसमे) धोखे को कम स्थान है, सट्टे को बिलकुल ही नहीं।"*

गांधीजी कहते हैं कि "जब उत्पादन स्थानीय है या दूसरे शब्दों में जब वितरण और उत्पादन साथ-साथ होता है तो वितरण को समरूप रखा जा सकता है।"

गांधीजी वितरण के समाजवादी तरीक़े का समर्थन नहीं करते है।

"आप चाहते हैं कि मैं सरकार द्वारा नियंत्रित व्यवस्था अर्थात् एक ऐसी आर्थिक व्यवस्था के बारे में, जिसमे उत्पादन व वितरण दोनों सरकार द्वारा नियंत्रित व नियमित हों जैसा कि सोवियट रूस में किया जा रहा है, अपनी राय जाहिर करूँ। ठीक है, यह एक नया प्रयोग है। अन्त में यह कितने अंश में सफल होगा यह मैं नहीं जानता। यदि इसका आधार 'बल-प्रयोग' न हो तो मैं उसकी बलैया लूँगा। लेकिन आज चूँकि यह बलप्रयोग पर आश्रित है, मैं नहीं कह सकता कि कहाँ तक और किधर यह हमें ले जायगा।"

---

*Harijan, 2-11-1934.

जसा कि एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री का कथन है, "बड़े पैमाने के कल-पुर्जों पर यदि व्यक्तिगत स्वामित्व है तो उसका नतीजा वृहत्काय उद्योग और एकाधिपत्य-पूर्ण मतिद्वंद्विता होता है और इसके विपरीत यदि सरकारी स्वामित्व है तो उससे एक विकटाकार दानव की सृष्टि होती है जिसकी ताक़त का दुरुपयोग निर्दयतापूर्वक किया जा सकता है।" इसके अतिरिक्त गांधीजी रूस वाले वितरण के चक्करदार तरीक़े को पसन्द नहीं करते है। केंद्रीभूत उत्पत्ति और राजकीय वितरण ने एक 'प्रबंधकर्त्री नौकरशाही' को जन्म दे डाला है जो 'स्वल्पजन-सत्तात्मक राज्य-पद्धति' की ओर झुक रही है।

इसलिये गांधीजी बड़े पैमाने के बड़े उत्पादन की अपेक्षा जन-साधारण द्वारा छोटे पैमाने के विकेंद्रीभूत उत्पादन को चाहते हैं। खादी उत्पत्ति का हवाला देते हुए वे कहते हैं, "यह बड़ी उत्पत्ति है लेकिन यह बड़ी उत्पत्ति जनता के अपने घरों में होती है। यदि एक व्यक्ति के उत्पादन को लाखों बार गुणा कर डालें तो क्या वह एक बहुत बड़ी मात्रा की उत्पत्ति न होगी? लेकिन मैं पूरी तरह जानता हूँ कि आपका वृहत् उत्पादन कम से कम संख्या के लोगो द्वारा भरसक अत्यन्त पेचीदी मशीनरी की मदद से उत्पत्ति के लिये एक पारिभाषिक शब्द है। मैंने अपने तईं जान लिया है कि यह ग़लत है। मेरी मशीनरी बहुत ही प्राथमिक ढंग की होनी चाहिये जिसे मैं लाखों मनुष्यों के घरो में रख सकूँ।"*

राष्ट्रीय रक्षा

विदेशी आक्रमण और रक्षण के दृष्टिकोण से भी उद्योगों का विकेंद्रीकरण और देहातीकरण परमावश्यक है। हवाई

*Harijan, 2-11-1934.

बमबाज़ी के लिये केन्द्रीभूत व्यवसाय आसानी से निशाना बन जाते हैं और कुछेक व्यवसायिक केंद्रों का नाश देश को केवल सैनिक दृष्टि से ही अधिक भेद्य नहीं बनाता किन्तु देश के समस्त आर्थिक जीवन को पूर्ण रूप से अस्तव्यस्त कर डालता है। फलतः ब्रिटेन, जर्मनी और जापान सरीखे व्यवसाय-समृद्ध देश अब आर्थिक मोर्चे पर अपनी रक्षणात्मक सामर्थ्य को शक्तिशाली बनाने के उद्देश्य से उत्पत्ति को विकेंद्रित करने की योजनायें तैयार कर रहे हैं। जापान के ज़बरदस्त हमले के खिलाफ चीनियों की सफलता का वास्तविक रहस्य उनके व्यवसायिक सहकारी संघो के अलौकिक संगठन में है। चूँकि भारत को अभी भी भविष्य के लिये योजना बनाना है। दूसरे देशों की गलतियो को दोहराना क्या बेवकूफी न होगी ? उदाहरण के तौर पर बंबई और अहमदाबाद जैसे बड़े शहरों में कपड़े के उद्योग को केंद्रित कर देने के बजाय, प्रत्येक गाँव मे खादी के घरेलू उत्पादन को प्रोत्साहन देना क्या अच्छा न होगा ? गांधी जी लिखते है :—

"१६०० मील लंबे और १५०० मील चौड़े क्षेत्र फल पर बिखरे हुये भारत के सात लाख गाँवों मे फैले हुये करोड़ों लोगों के लिये यह किसी भी दिन बेहतर और अधिक कुशलपूर्ण है कि वे अपने निजी ग्रामो में अपना कपड़ा ठीक उसी तरह बना लें जिस तरह वे अपना भोजन तैयार करते हैं। यदि ये गाँव जीवन की मुख्य ज़रूरतों की उत्पत्ति को अपने वश में नहीं कर लेते हैं तो वे उस आज़ादी को कायम नहीं रख सकते जो वे आदि काल से भोगते आये हैं।"*

उत्पादन की लागत

बड़ी मात्रा के उद्योगीकरण के समर्थक दलील देते हैं कि

*Young India, 2-7-1931.

हाथ की कारीगरी से बनी हुई वस्तुओं की अपेक्षा मिल में बना हुआ माल कम खर्चीला होता है क्योंकि कुछेक बाहरी तथा आभ्यंतरीय बचतों के कारण उनकी उत्पत्ति की लागत अपेक्षाकृत कम है। किन्तु यह फिर एक भ्रमपूर्ण तर्क है। इस संबंध में डॉ० ज्ञानचंद का एक कथन बड़ा उपयुक्त है :—

"लागत की यह धारणा, इस तर्क के अंतर्गत अनुमान के अनुसार गलत है और वह मूल्यों के झूठे माप पर आश्रित है, क्योंकि उद्योगीकरण सामाजिक दृष्टि से अत्यंत मँहगा है। घनी और गंदी आबादी की उत्तरोत्तर वृद्धि और कार्य व जीवन की अधम अवस्थाओं की ओर ले जाने के अतिरिक्त यह एक ऐसी यंत्र-क्रिया-विधि के जन्म को ज़रूरी बना देती है जो असहनीय सामाजिक दबाव और दोष खड़े कर देता है और जिसमे आये दिन तोड़ फोड़ और हिंसापूर्ण गड़बड़ों की संभावना बनी रहती है। यह सारा का सारा फैक्टरी उत्पत्ति की लागत में मानना होगा। वे व्यक्तिगत खर्चे के रूप में उद्योग पतियों के लिये खर्चे की मदें नहीं हैं, किन्तु समाज के लिये वे बहुत बोझिल खर्चे हैं।"

आगे चलकर वे कहते हैं :—

"जहाँ तक लड़ाई आर्थिक कारणों से होती है, जन और धन के रूप में इसकी भयंकर खपत को भी फेक्टरी की उत्पत्ति के 'नावें' डालना चाहिये।"

मध्यप्रांत और बरार की व्यवसायिक जाँच समिति के अपने विवरण में प्रो० कुमाराप्पा लिखते हैं :—

"चूँकि केंद्रित उत्पादन कच्चे माल को दूर की जगहों से एकत्रित करता है और अपनी उत्पादक क्षमता को एक नियत स्थान पर केंद्रस्थ कर लेता है, उसे यातायात के साधनों और कच्चे माल की उत्पत्ति को नियंत्रित करने की सुविधाओं पर

अधिकार जमाना पड़ता है। इनके लिए दूसरों के जीवन और कार्य-व्यापार पर अधिकार करना होता है और इसलिये यह (केंद्रित उत्पादन) ठीक तौर पर व्यक्तिगत प्रभुत्व के सुपुर्द नहीं किया जा सकता। इस प्रकार की ताकतों के बिना बड़े पैमाने की उत्पत्ति असंभव है। इसलिये यदि बड़े पैमाने के उद्योगों की उत्पत्ति में कोई भी सस्तापन है तो वह कुछ मात्रा में उस तरीके से संबंधित खर्चे के कुछ भाग के कारण है जिसको देश की साधारण आमदनी में से लगाया जाता है। इसलिये ऐसा तर्क करना बेवकूफी है कि बड़े पैमाने के उद्योगों से बनी हुई चीजें सस्ती हैं।"

यही कारण है कि गांधीजी कपड़े के धंधे का उदाहरण लेते हुये यह मानते हैं कि 'गज प्रति गज खादी मिल के कपड़े से यद्यपि मँहगी हो सकती है तो भी कुछ मिलाकर और गाँव वालों के हित-संबंध से यह सबसे सस्ता और व्यवहारिक धंधा है जो कि अपना सानी नहीं रखता'।* उसी प्रकार हाथ से कुटा हुवा चावल मिल द्वारा साफ किये चावल से मँहगा हो सकता है, लेकिन यदि राष्ट्र के स्वास्थ्य पर चमकदार चावलों के कुप्रभावों की भी गणना की जाती है तो वह मँहगा नहीं पाया जायेगा। वही हाल घानी के तेल और मिल के तेल का है। इसके अलावा बड़ी मात्रा के उद्योगों में प्राप्त होने वाले बाहरी और आँतरिक बचतें मुख्यतः उनके एक स्थान पर एकत्रीकरण के कारण नहीं हैं। वे बहुत अंश में कच्चे माल की थोक खरीद, अपने बनाये हुये माल की थोक बिक्री, पूँजी की ज्यादा सुविधाओं, रेल किराये की रियायती दरों, सरकारी सहायता और ऐसी ही अन्य सुविधाओं के कारण हैं। लेकिन अगर ग्रामोद्योगों का संगठन सरकार द्वारा

*Harijan, 20-6-1936.

वैज्ञानिक ढंग पर किया जाता है तो कोई कारण नहीं कि वे मिल कारखानो की बड़ी मात्रा की उत्पत्ति से सफलता पूर्वक मुकाबिला करने में समर्थ न हो सकें। भारत में (घरेलू) शक्ति-संचालित करघा-व्यवसायों की अत्यधिक संभाव्य संपत्तियों का ज़िक्र करते हुये सर विक्टर ससून ने अखिल भारतवर्षीय वस्त्र-व्यवसाय सभा के प्रथम अधिवेशन में अपना अध्यक्षीय भाषण देते हुये कहा,

"छोटे विद्युत्-गति-संचारक यंत्रों संयुक्त हलके शक्ति-करघों के बनाने की उन्नति के लिये इस देश में बहुत बड़ी संभावना है ताकि थोड़ी संख्या में इन करघों और विद्युत् यंत्रों को खरीदना किसी भी छोटे पूँजीपति की सामर्थ्य में रह सके। इस प्रकार के छोटे छोटे उद्योग-यंत्र कीमत और अच्छेपन में भारत को किसी भी देश से मुकाबिला करने के योग्य बना देंगे खासकर यदि ऐसे साहस के उद्योगों को सहयोगात्मक आँदोलन के रूप में खड़ा किया जाय"।

सर विक्टर इस प्रकार के विकेंद्रित उत्पादन को पूँजीवादी आधार पर देखते हैं। यह वाँछनीय नही है। विकेंद्रित इकाइयाँ स्वतंत्र रहते हुये भी औद्योगिक सहकारी संघों के द्वारा एक दूसरे से संबंधित की जा सकती हैं जैसा कि चीन में है। किंतु बड़ी मात्रा में पैदा किये जाने वाले माल की तुलना में विकेंद्रित उत्पादन के अच्छेपन और कीमत के बारे में सर विक्टर ससून की राय महत्व पूर्ण है। हेनरी फोर्ड तक भी जो सबसे बड़े व्यवसाय पतियो मे से एक हैं, जिन्हे आधुनिक संसार ने जन्म दिया है, इस बात को मानते हैं कि, "साधारणतया एक नियम के तौर पर औद्योगिक सामान के बड़े यंत्रों का कारबार कम व्यय वाला नहीं है। जनता की सेवा को सदा ध्यान में रखते हुये बड़े कारोबार को देश भर मे न केवल कम से कम लागत

पर माल पैदा करने के लिये बल्कि उत्पादक लोगो में उत्पत्तिजन्य द्रव्य को खर्च करने के लिये भी फैलना पड़ेगा।"* इस प्रश्न के दूसरे यंत्र निर्माण व संचालन संबंधी पहलुओ पर सर रिचर्ड ग्रेग ने अपने 'खद्दर के अर्थशास्त्र'‡ में पूर्ण रूप से विचार किया है।

जीव विज्ञान का प्रमाण

ग्राम मंडलों का पुनर्जीवन प्राणि-शास्त्र की दृष्टि से भी वाँछनीय है। मालथस को अधिक आबादी हो जाने की संभावना का भूत सवार था, किन्तु आज के जीव-विज्ञान वेत्ताओं और समाज-शास्त्रियों के सामने मानव विनाश की संभावना का प्रश्न है कि क्योंकि बात कुछेक दशाब्दियों मे कई देशों की आबादी में निरंतर कमी हुई है। समाज-शास्त्र का यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि शहर में रहने वाले धनी लोगों की प्रजनन शक्ति देहाती परिस्थितियों मे रहने वाले साधारण लोगों की अपेक्षा बहुत कम होती है। 'राष्ट्रों की संपत्ति'§ नामक पुस्तक में आदम स्मिथ ने भी लिखा था कि 'स्त्री जाति की विलास-प्रियता जब कि शायद वह भोग की वासनाओं को उद्दीप्त करती है, सदा ही संतानोत्पादन की शक्ति को कमजोर और बहुधा बिलकुल नष्ट कर देती प्रतीत होती है।" यह अनेक कारणों से है जिनमें से मुख्य हैं—शहरी ठसाठस, माता-पिता बनने के अधिकारों की तुष्टि के मुकाबिले मे खड़े होने वाले दूसरी ओर के आकर्षण और कौटुंबिक समूह की स्थिरता पर सामाजिक सम्बन्धो के नमूनों की छाप। शहरी क्षेत्रों में की यांत्रिक उत्पत्ति स्वयं जीवन को ही यंत्रवत् बनाने की ओर

---

*My life and Work.

‡ Economics of Khaddar.

§'Wealth of Nations.

झुकती है जिसका परिणाम यह होता है कि माता पिता बनने की और स्त्री-पुरुष सम्बन्ध विषयक सहज प्रवृत्तियाँ अपनी साधारण प्राण शक्ति को खो बैठती हैं। प्रसिद्ध अंग्रेज प्राणि शास्त्र वेत्ता प्रो० लेन्सलॉट हॉगबेन इस वस्तु-व्यापार का तीक्ष्ण बुद्धि से विश्लेषण करते हैं—देहाती परिस्थितियों में, जहाँ कि बच्चे जानवरो और पौधों में मातृ-पितृत्व की पुनरावृति के संपर्क में बड़े होते हैं, वे सब प्रक्रियायें जिनसे जीवन फिर से ताजा और नया होता है, स्वाभाविक घटनायें मान ली जाती हैं। शहर मे प्रजनन क्रिया यांत्रिक जीवन की व्यवस्था में ढके हुये ढंग पर अस्पताली रीति-रिवाज का अवैध प्रवेश है। यंत्र जो न पैदा करता है और न जिससे उत्पत्ति होती है। मानवीय सम्बन्धों की प्रथा को स्थिर करता है।'*

समाज शास्त्री, जो अब भी मालथस की कल्पना-कथा से बहुत अंश मे आक्रांत हैं, अत्यन्त आसानी से यह विश्वास कर लेते हैं कि यदि पूँजीवाद हट जाता है तो आबादी अपनी संभाल अपने आप कर लेगी। लेकिन जैसा प्रो० हॉगबेन का संकेत है शहरी क्षेत्रों की कम प्रजनन-शक्ति पूँजीवाद का ही विशेष लक्षण नहीं है। यह ज़ादातर अपनी संपूर्ण आनुषंगिक अवस्था के साथ आधुनिक उद्योग-वाद का कटु परिणाम है। इसलिये प्रतिशास्त्र-वेत्ता स्वयं 'मानव-जीव-रक्षण' के लिये 'ग्रामों की ओर' वाले आन्दोलन की वकालत करते हैं।

कृषि-कर्म-विद्या का प्रमाण

कृषिकार्य-सम्बन्धी विचारों से भी छोटे और स्वयं परितुष्ट देहाती मंडलों का संगठन कठिन कार्य नहीं है। हाल ही मे कृषि-जीव-विज्ञान में असाधारण उन्नति हुई है, और अब अन्य

*What is Ahead of us, p. 184.

स्थानीय इकाइयों से आयात पर निर्भर रहे बिना सब देशों के लिये अपने भीतर ही भिन्न-भिन्न फसलों को उत्पन्न करना संभव है। कृषि-जीव विज्ञान ने भिन्न-भिन्न देशों को ही नहीं बल्कि उनकी छोटी-छोटी अर्थ-इकाइयों को भी स्वयंपूर्ण बनने के योग्य बना दिया है। केलिफोर्निया के प्रो० गेरिक द्वारा संयोजित 'कचरा-कर्कट-रहित खेती' की नवीन पद्धति अभी भी प्रयोग की दशा में है। लेकिन अगर वह संतोषप्रद सिद्ध होती है तो उसके द्वारा कमती जमीन में से कम मेहनत के साथ ज्यादा खाद्य-सामग्री को उत्पन्न करने की योग्यता प्राप्त होने से आधुनिक कृषि-कर्म में क्रान्ति की आशा की जा सकती है। इस विषय के पूर्णतर अध्ययन के लिये पाठकों को डा० विलकाक्स रचित 'राष्ट्र घर में रह सकते हैं'* नाम की पुस्तक को देखना चाहिये।

अपनी 'कला-सिद्धान्त और सभ्यता'‡ और 'नगरों की संस्कृति'§ नामक पुस्तकों में अमरीका के प्रसिद्ध समाज शास्त्री लेविस ममफोर्ड इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि ठसाठस भरी फैक्टरियों वाले बड़े-बड़े शहर असामयिक और अनावश्यक हैं। उनके अनुसार विज्ञान के नये करिश्मे संपूर्ण देहात में बिखरे हुए छोटे-छोटे बगीचे वाली बस्तियो मे स्थित छोटे कारखानों को 'उद्योग और समाज के सबसे ज्यादा सामर्थ्यवान, स्वस्थ तथा स्वास्थ्यप्रद इकाइयाँ बना सकते हैं। कुछ दशाब्दियों पहले प्रचुर अन्वेषण व अध्ययन के साथ क्रोपटकिन ने 'रोटी की विजय'¶ और 'खेत, फैक्टरी और कारखाने' $ नाम की अपनी दो पुस्तकों

---

*'Nations can live at Home

‡Technics and civilization.

§The culture of cities.

¶The Conquest of Bread.

$Fields, Factories and Workshops

में इसी सत्य को हृदयंगम कराने के लिए काफी परिश्रम उठाया था।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति

प्राण-विज्ञान व समाज-शास्त्र सम्बन्धी विचारों के अतिरिक्त विकेंद्रित सहकारी उद्योग की योजना अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और एकता की दृष्टि से भी अत्यन्त जरूरी है। बड़ी मात्रा का उत्पादन चाहे वह सरकारी नियंत्रण मे हो अथवा लोगों के सीधे निजी प्रबन्ध में, अवश्य ही हमे विदेशी बाज़ारों के लिए एक उन्मत्त दौड़ में शरीक़ होने के लिए अग्रसर करता है, जिसका अन्त जल्दी या देर से 'रक्तपिपासु युद्धों' और 'नृशंस हत्याओं' में होता है। यह गत दो शताब्दियों का दुःखद अनुभव रहा है। लाभ कमाने का यह बेलगाम लोभ वर्तमान तथा गत् महासमर का मूल कारण है। यह प्रवृत्ति बड़ी मात्रा के यंत्रीकरण में अन्तर्निहित है। सोवियट रूस का नया अनुभव भी बहुत बेचैन करने वाला है। अभी भी 'मिलित राष्ट्रों' में युद्धोत्तर बाज़ारों के सम्बन्ध में गरमागरम बहस हो रही है। अधिकृत प्रदेशों के बाजारों के विषय में इङ्गलैण्ड की आम सभा में हुई ताज़ी बहस से हम सबों की आँखें खुल जानी चाहिये। यही कारण है कि गांधीजी आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था के ख़िलाफ़ रहें हैं। जैसा पहले संकेत किया जा चुका है, वे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ऐसी चीज़ के विरोधी नहीं हैं बशर्ते कि उससे पारस्परिक हितो के आधार पर भिन्न-भिन्न देशो की यथार्थ आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। लेकिन सम्राज्यों की मौजूदा लड़ाई में यह असंभव-प्रायः है। अतएव गांधीजी भारत से, अपने तैयारशुदा माल के लिए दुनिया के बाजारों की कोई आकांक्षा न रख, शान्ति और स्वयंपूर्णता के सिद्धान्तों पर राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था की योजना तैयार करने की इच्छा रखते हैं। "क्या आप नहीं देखते कि

अगर हिन्दुस्तान का उद्योगीकरण हो जाता है तो हमें शोषण के लिये संसार के अन्य भूखण्डों को खोजने के वास्ते एक नादिरशाह की जरूरत होगी, और इस प्रकार हमें इंगलैण्ड, जापान, अमरीका, रूस और इटली की जहाजी और फौजी ताकतों का मुक़ाबिला करना होगा। इन प्रतिस्पर्धाओं के विचार से मेरा सिर चकरा उठता है।"* अपने उद्देश्यों की व्याख्या राष्ट्रीय योजना समिति ने भी इस प्रकार की थी कि वह ऐसे प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप आर्थिक साम्राज्यवाद के भंवर-जाल मे न पड़ते हुए संपूर्ण देश से लिये राष्ट्रीय स्वयंपर्याप्तता की प्राप्ति है। चीन के औद्योगिक सहकारी आन्दोलन के फायदे वर्णन करते हुए निम वेल्स कहती हैं:—

यह महत्वपूर्ण है कि चीन को एक साम्राज्यवादी शक्ति नहीं होना चाहिये और न ही जापान द्वारा भविष्य के लिये साम्राज्यवादी विजय के वास्ते एक साधन रूप। इसके बजाय यदि अंतरवर्ती चीन में लोकतंत्रात्मक सहकारी आधार पर उद्योग चलाये जाते हैं तो यह खतरा हट जायगा। इस प्रकार का स्वस्थ और संतुलित उद्योग दूर देशो के लिये प्रतियोगितापूर्ण नहीं होगा बल्कि वह देश मे क्रय-शक्ति बढ़ायेगा और समानता के आधार पर अपने तथा विदेशी व्यापार के लिये बाजारो को उत्पन्न करेगा।"

अन्य प्रमाण

इस प्रकार घरेलू उद्योग-धंधावाद पर आश्रित ग्राम समुदायवाद गांधीजी की सनक नहीं है। वह भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से ठोस और वैज्ञानिक है। हाल के कुछेक वर्षों के अन्दर ही उसने पश्चिम के कई महत्वपूर्ण लेखकों और विचारकों से—प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में—प्रशंसा व समर्थन प्राप्त किया है। अंग्रेजी सामा-

*Harijan, 29-8-1936.

जिक-संरक्षण-योजना के प्रसिद्ध निर्माता सर विलियम बिव्हरिज ने भारत के लिये एक उसी प्रकार की योजना पर विचार करते हुए कहा था :—

"भारत का उद्योग-धंधा संभवतः बढ़ेगा लेकिन यह जरूरी है कि उसका वितरण इस देश यानी इंगलैण्ड और संयुक्त राष्ट्र अमरेकिा में के हमारे भयंकर बेतरतीब शहरों से बचने के लिये ठीक रूप में होना चाहिये।"

फ्रांस के एक प्रसिद्ध अर्थ-शास्त्री हियासिथ डुबरियल ने दर्शाया है कि "बड़े से बड़े औद्योगिक काम पारस्परिक सम्बन्ध में बँधे हुए किन्तु स्वसंचालित अनेक मंडलों को शामिल कर संगठित किये जा सकते हैं," और उन्होंने यह मानने के लिये कारण पेश किये हैं कि ऐसा संगठन सम्बन्धित उद्योगों की क्षमता को घटायेगा नहीं, बढ़ा भले ही दे। प्रसिद्ध यूरोपीय विचारक काउंट कोडेनहोवकालेर्जी ने अपनी 'एक सत्तात्मक शासन बनाम मनुष्य'* नाम की पुस्तक में युद्ध-थकित संसार की समस्त बुराइयो के अन्तिम और टिकाऊ हल के रूप में कृषि-सहयोग समितियों के स्थापन की तजवीज की है। आर्थिक क्रांति की आवश्यकता पर विचार करते हुए वे कहते हैं:—

"इसके लिए एक स्वतन्त्र आर्थिक पद्धति व कार्य प्रणाली की जरूरत है। इसका उद्देश्य सहयोग सिद्धान्त द्वारा परस्पर बंधे हुए यथाशक्य ज्यादा से ज्यादा स्वाधीन हस्तियों को जन्म देना है। आर्थिक अराजकता और समूहवाद दोनो को यह अस्वीकार करता है। इसका आदर्श 'कृषि-सहयोग-समितियों' में मिलेगा जिसमें कि भाईचारा और पारस्परिक सहायता की भावना के साथ-साथ खानगी संपत्ति के सारे फायदे शामिल हैं।

---

*Totalitarian State against Man.

हमारे अपने देश में डॉ० राधाकमल मुकर्जी ने 'ग्राम्य सभ्यता' की जरूरत पर जोर दिया है:—

"भारत के व्यवस्थित अर्थ-प्रबन्ध का अभिप्राय न तो आर्थिक स्वैर-सत्ता और राष्ट्रबद्ध आक्रमण है जिसके लिये फासिस्ट देशो में चेष्टा की गई थी; और न वह एक पूँजीवादी व निर्देशक छोटे वर्ग की शक्ति व समृद्धि पर आश्रित आर्थिक साम्राज्यवाद ही है जैसा कि लोकतन्त्रीय देशों में मिलता है। पुनः न ही वह है कोरी अर्थ प्रधान व पलटन-व्यवस्था युक्त उन्नति जैसी कि सोवियट रूस में है। भारत की आर्थिक योजना के पीछे का सिद्धान्त-तत्व एक ओर राष्ट्रीय आत्म-रक्षा के उद्देश्य से शान्ति पूर्ण कृषि-सभ्यता के आधार को विस्तीर्ण करना है और दूसरी ओर बदली हुई आर्थिक दुनिया में पूर्ण और स्वतंत्र रूप से अपने प्राचीन नैतिक और सामाजिक गुणो को व्यक्त करना है।"*

बम्बई योजना-कारों ने भी हिन्दुस्तान के राष्ट्र-अर्थ-प्रबन्ध मे घरेलू उद्योग धंधावाद के महत्व के विचार को छोड़ा नहीं है:—

"उद्योग धन्धों के पुनर्संगठन के वास्ते हमारी योजना का यह एक आवश्यक अंग है कि बड़ी मात्रा के उद्योगों के साथ-साथ छोटे पैमाने के और घरेलू उद्योग धन्धों को पर्याप्त विस्तार-क्षेत्र मिलना चाहिये। यह केवल अधिक काम जुटाने के साधन रूप में ही नहीं बल्कि योजना की प्रारंभिक अवस्थाओं में पूँजी की, विशेषत: बाहरी पूँजी की, जरूरत को कम करने के लिये भी आवश्यक है।"

लेकिन यह स्पष्ट कहने के लिये मुझे क्षमा किया जाय कि इन विचारों के बावजूद भी ग्रामोद्योगों के प्रति इन योजनाकारों

*Economic Problems of Modern India.

का रवैया बहुत साफ नहीं है। क्या वे कुछ सुविधाओं के कारण योजना की प्रारंभिक हालतों में ऐसे उद्योगो के लिये पर्याप्त क्षेत्र की व्यवस्था चाहते हैं ? अथवा वे स्वस्थ व संतुलित राष्ट्र-अर्थ-प्रबन्ध के निर्माण की दृष्टि से ग्रामोद्योग के विकास और पुनर्जीवन को एक स्वतः अभीष्ट लक्ष्य के रूप में मानते हैं ? यदि घरेलू उद्योग धन्धों का विकास अवस्था परिवर्तन के समय में पूँजी की जरूरत को घटाने के लिये और भविष्य में सिर्फ बड़ी मात्रा के और युक्ति-सिद्ध पुनर्संगठित उद्योगों के लिये स्थान बनाने को ही किया जाता है तो बम्बई योजना के दृष्टिकोण में मौलिक परिवर्तन की जरूरत है।

चीन में

युद्ध जर्जर चीन में घरेलू उद्योग पद्धति को एक प्रमुख सफलता मिली है। "लोकशाही के लिये चीनी गठन" नाम की अपनी पुस्तक में निमवेल्स ने 'उद्योग-सहयोग समितियों' या संक्षिप्त रूप में वर्णित' उद्योसहिका' के कार्य का सजीव व मुग्धकारी वर्णन दिया है। सन् १९३८ तक जापानी युद्ध यंत्रों ने लगभग ८० फीसदी चीनी उद्योग धंधो को बर्बाद कर डाला था जिसके फलस्वरूप हज़ारों मजदूरो को बेकार व बे घर बार बनना पड़ा। चीन का सारा भविष्य डाँवा डोल स्थिति में था। राष्ट्रीय इतिहास के ऐसे संकट के समय मे कुछ चीनी युवकों ने रेवीअले के नेतृत्व में अन्तरवर्ती चीन में सहकारी आधार पर 'गोरेला उद्योग धंधो' की योजना बनाई थी। उद्योग सहयोग समितियाँ आज चीन की समृद्धि और संपत्ति हैं। उन्होंने विदेशी आक्रमण के विरुद्ध रक्षा की अजेय पंक्ति के रूप में ही केवल देश की सेवा नहीं की थी बल्कि उस समय जब कि सारा आर्थिक संगठन बम्बबाजी से टुकड़े-टुकड़े कर डाला

गया था, (उन्होने) समस्त आवश्यक उपभोग्य पदार्थों को जुटाकर राष्ट्र की जीवन शक्ति को भी कायम रक्खा था। चीन में हजारों छोटे छोटे सहकारी मंडलों का आविर्भाव हुआ है जो आर्थिक दृष्टि से अपने हस्त श्रम और छोटे छोटे यंत्रों से जीवन की सारी जरूरतों को जैसे भोजन कपड़ा, कागज, साबुन, तेल, काँच, रासायनिक व औषधीय द्रव्य, लौह सामान, मशीन के औजार, चमड़ा सामग्री अस्पताली साज-सामान व लकड़ी का सामान वगैरा वगैरा उत्पन्न करते हुये स्वयं पूर्ण व स्वशासित हैं। ये औद्योगिक सहकारी मंडल शिशुगृह, दिन व रात्रि पाठशालायें, अस्पताल और आमोद-प्रमोद भवनों को भी चला रहे हैं। १६४० में इन औद्योगिक सहकारी मंडलों की संख्या १,५००, १६४२ में लगभग ६,००० और १६४३ मे करीब करीब १०,००० तक पहुँच गई थी। इन उद्योग धंधों के विषय का अत्यधिक आश्चर्य जन्य तथ्य उनका माहवारी उत्पादन है। यह बयान किया जाता है कि उनकी माहवारी उत्पत्ति की कीमत उनमें लगी हुई पूँजी से दो गुनी ज्यादा है। शायद यह युद्ध-जनित कारणों से हो, तो भी वह चकित कर देने वाली है। चीन के 'उद्योसहिका' का मूल्य सर्वोपरि है, न केवल युद्ध के समय में बल्कि भावी औद्योगिक विकास के लिए भी निम् वेल्स लिखती है कि 'चीनी उद्योग-विशेषज्ञों और अनेक अमरीकी व अँग्रेज आलोचकों की यह एक ध्यान पूर्वक सोची हुई राय है कि, जैसा अब है वैसा भविष्य में, ये उद्योग-सहकारी-समतियां उद्योग-धन्धों के न केवल सुन्दरतम ही, किन्तु सबसे ज्यादा व्यवहारिक रूप की व्यवस्था चीन के वास्ते कर सकती हैं। अतरवर्ती चीन के हृदय मे आज हलचल पैदा करने वाला यह गति शील आन्दोलन, सामाजिक उथल पुथल व युद्धों के बीच

जो हमारे युग के प्रतीक है, कुछ कम महत्व का नहीं है। इसकी अनुद्भूत शक्तियाँ महान हैं और लड़ाई के मैदान के बीचो-बीच लोकशाही के आधार पर औद्योगिक पुननिर्माण के लिए की गई यह कशमकश एक उत्साह प्रेरक वस्तु है जिसने पहिले ही सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन में और चीन के भाग्य में दिलचस्पी रखने वाले सैकड़ों विचारकों का ध्यान अपनी ओर खींच रक्खा है। १६४४ के 'एशिया और अमरीकाज' के मई वाले अङ्क में चीन के 'गुरेला उद्योग' पर लिखते हुये ईज्रर स्नो इसी विचार को कहते हैं:—

'यह न केवल अन्तिम अवस्था में युद्ध जीतने में सहायक होगा, किन्तु मौक़ा मिलने पर वह अपने संस्थापकों की एक सुखप्रद आर्थिक आधार-सृष्टि की मौलिक आशा को भी सफल बना सकेगा जिस पर लोकशाही के शान्ति पूर्ण तरीको को लेते हुये चीन के भविष्य का निर्माण करना है।

निसन्देह चीन के 'उद्योसहिका-आन्दोलन' का महत्व भारत के लिए अत्याधिक है। इस सम्बन्ध में निम् वेल्स की पुस्तक की भूमिका में पंडित नेहरू महत्वपूर्ण विचार प्रकट करते हैं:—

'चीन की तरह हिन्दुस्तान में भी विशाल जन-शक्ति, विराट बेकारी और अपर्याप्त रोज़गार है। यूरोप के उन तंग छोटे २ देशों से जो अपनी छोटी और बढ़ती हुई आबादी के साथ धीरे-धीरे उद्योग-प्रधान बन गये हैं, तुलना करने से कोई भी फायदा नहीं है। कोई भी योजना जिसके अन्तरभूत हमारी जन शक्ति की बरबादी है या जो मनुष्यों को वेरोज़गार बना डालती है, बुरी है। मान्ननीय दृष्टि के अतिरिक्त शुद्ध आर्थिक दृष्टि कोण से भी अधिक जन शक्ति और कम-विशिष्ट मशीनरी का इस्तेमाल करना कदाचित ज्यादा लाभदायक हो। बहुतों को वेरोज़गार रखने की बजाय मनुष्यों की बड़ी तादाद के लिये

कम आमदनी पर काम ढूंढ निकालना बेहतर है। ये भी सम्भव है कि घरेलू उद्योग-धन्धों की बड़ी संख्या से उत्पादित सम्पूर्ण-संपत्ति, उसी प्रकार के सामान को पैदा करने वाली कुछ एक फेक्टरियों की बनी सम्पत्ति से शायद ज्यादा हो सके।'

जापान में

यह भली भांति विदित है कि जापान भी छोटी मात्रा के घरेलू उद्योग धन्धों का देश है। गोयथर स्टीन 'जापान में बनी हुई* नामक अपनी पुस्तक में वहाँ के औद्योगिक कार्यालयों की भिन्न-भिन्न श्रेणियों के सम्बन्ध का कच्चा अनुमान निम्न प्रकार देते हैं:—

अत्यन्त छोटे उद्योग-धन्धे	....	१० प्रतिशत
छोटे "	....	२६ "
मध्य-आकारीय " "	....	३५ "
बड़े पैमाने के " "	....	२६ "

ये 'बौनी या छोटी छोटी इकाइयां' उपभोग्य पदार्थ ही नहीं बल्कि मशीनें भी बनाती हैं। यह बताया गया है कि जापान में बनी हुई मशीनरी का केवल ३० प्रतिशत ही बड़े बड़े कारखानों में बनता है। प्रोफेसर ऐलन अपनी पुस्तक 'जापानी व्यवसाय:' उसका नूतन विकास व आधुनिक स्थिति' में लिखते हैं:—

'हम यह नतीजा निकाल सकते हैं कि जापान के बहुत से उद्योगों में छोटी छोटी विशिष्ट-कला-विषयक-इकाई की प्रधानता देश की आर्थिक कमजोरी को नहीं बताती है बल्कि वहाँ पाई जाने वाली आर्थिक अवस्थाओं के साथ में औद्योगिक तरीकों

---

*Made in Japan.

‡Japanese Industry: Its Recent Development and Present Condition.

की उचित उपयोग-विधि दर्शाती है। उस देश में पूँजी अपेक्षाकृत कम और मंहगी है, जबकि 'उद्योग' में काम करने वाले मजदूर ज्यादा और सस्ते हैं।'

हिन्दुस्तान का हाल भी ऐसा ही है। लेकिन दुर्भाग्य वश जापान में इन छोटी छोटी मात्रा की इकाइयों का नियंत्रन व सम्बन्ध-करण चीन की तरह सहकारी मंडलो द्वारा नहीं होता है, बल्कि कुछ एक बड़े बड़े पूँजीपतियों द्वारा। यह वांछनीय नहीं है क्योंकि घरेलू कारीगर अपना स्वामी स्वयं बनने के वजाय पूँजीपतियों के गला-सटी फंदे और शोषण के वश में रहता है।

अन्य देश

सोभियट रूस के 'उत्पादकीय-स्वामित्त्व-सहकारी संघों' ने भी जिन्हें आम तौर पर 'इनकाप्स' कहा जाता है एक उल्लेखनीय क्षमता प्राप्त की है। अपनी 'सोभियट समुदायवाद एक नयी सभ्यता'* नामक पुस्तक में सिडने तथा विट्राइस वैब संकेत करते हैं कि सन् १९१९ के वाद, विशेष कर १९३२ से, सोभियट शासन के आधीन किस प्रकार इन 'उत्पादक-स्वामियों' को पुनर्जीवित व उत्साहित किया गया है। "इस आदर्श स्वरूप में सदस्यों को वेतन या मजदूरी नहीं मिलती है। वास्तव में वे किसी 'नौकरी के इकरारनामे' के अन्दर काम पर नहीं आते हैं। वैयक्तिक या सामूहिक रूप में वे न केवल उत्पादन के साधनों के बल्कि अपनी महनत की सब उत्पत्ति के पूरे या आंशिक मालिक होते हैं।" १९३२ के प्रारम्भ में इस प्रकार की ठीक ठीक संघटित सहकारी समितियों की संख्या का अनुमान, ७० या ८० लाख की जन गणना को लेते हुए, लगभग २० हजार था, जिसमें

*Soviet Communism : A new Civilization.

२३,५०,००० मर्द और औरतों की सदस्यता प्राप्त ३० हजार कारखानें या और दूसरे कार्यालय शामिल थे। इन सबों के वस्तु-उत्पादन के एकत्रित जोड़ की कीमत लगभग ४५ लाख 'रूबल' आँकी गई थी।

लड़ाई के दौरान में, विकेन्द्रित-औद्योगिक इकाइयों के स्वायत्त-प्रबन्ध की आवश्यकता के कारण इंगलेण्ड में भी सहकारी स्वयं-व्यवस्थित कारखानों के लिए फिर से दिलचस्पी हुई है, उत्पादन क्रिया को बढ़ाने तथा उसे गोला-बारी से बचाने के लिये श्रमजीवी संघ, छोटी छोटी औद्यगिक इकाइयों का प्रबन्ध व संगठन आसानी से कर सकते हैं। आज इंगलेण्ड मे करीब करीब ४४ सहकारी कारखाने बताये जाते हैं। जैसा निमवेल्स संकेत करती हैं कि 'संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के सहकारी आन्दोलन की उपभोक्ताओं के लिये वस्तु-व्यवस्था विषयक तथा साख-विषयक संगठनों से ही केवल संतोष नहीं है, वह उत्पादक संघो का भी ख्याल रखता है। वहां सहकारी क्षेत्र, सहयोगी स्वास्थ्य समितियां और सहकारी बीमा संघ हैं। श्रम-विभाग के आँकड़े बताते हैं कि सन् १६३६ मे वितरणात्तमक और सेवा-भावात्मक समितियों की संख्या, ८,३०,००० सदस्यों के सहित, ४,१०० थी। युद्धकालीन संकट का मुक़ाबिला करने के लिये आस्ट्रेलिया और न्यूजीलेन्ड दोनों ही सहयोगात्मक उद्योगों का उपयोग कर रहे हैं। कहा जाता है कि जर्मनी में भी जर्मन जाति को पूरा पूरा काम देने के लिये हिटलर को भी कई एक घरेलू उद्योग-धन्धों की शुरूआत करने को वाध्य होना पड़ा है।

निष्कर्ष

इस प्रकार संसार के आर्थिक विचार की साधारण प्रवृत्ति विकेन्द्रीकरण और घरेलू-समुदायवाद है। भारत में यह प्रणाली अत्यन्त प्राचीन काल से वर्त्तमान थी। इसको फिर से जीवन

देना और काम में लाना निहायत जरूरी है, अलबत्ता वर्त्तमान परिस्थिति के लिये आवश्यक फेर फार के साथ। हमें उस पश्चिम की नकल नहीं करना चाहिये जो कि "पैशाचिक दाँतों" के नीचे आज अच्छी तरह पिस रहा है, जिसके लिये उसने इन सारी दशाब्दियों में तैयारी की थी। भारत को अवश्यमेव एक ऐसी आर्थिक योजना को विकसित करना चाहिये जो उसकी प्रतिभा और संस्कृति के अनुरूप हो। ऐसी योजना अन्य देशों के लिये भी एक शैली उपस्थित करेगी। इस प्रकार की देशी पद्धत्ति के मसविदे की रूपरेखा पहिले पहल डाक्टर एनी बेसेन्ट प्रणीत 'कामनवेल्थ ऑफ इन्डिया बिल' में खींची गई थी। ग्राम मंडलों और ग्रामोद्योग वाद पर आश्रित करीब करीब उसी आर्थिक योजना का समर्थन गांधीजी ने किया है।

गांधीजी के आर्थिक विचारों के अन्तरनिहित मौलिक सिद्धान्तों के विश्लेषण और व्याख्या के लिये इस पुस्तिका के इतने अधिक पृष्ठों को रखने के वास्ते मुझे क्षमा मांगने की जरूरत नहीं है। गांधी योजना 'मूल्यों' के नये माप-दण्डों पर आश्रित है और इन 'मूल्यों' का स्पष्टीकरण केवल करोड़ों रुपयों की शक्ल में संख्याओं और आँकड़ों के विवरण से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है।

———

१९

व्यापार और वितरण

आन्तरिक व्यापार

देश में, थोड़े या बहुत, स्वयं-परिपूर्ण आर्थिक इकाई-क्षेत्रों का संगठन व्यापार की ज़रूरत को कम से कम कर देगा। इसलिये आन्तरिक व्यापार को इस तरह से चलाना चाहिये जिससे कुल उपज का सम्भवतया अधिक से अधिक हिस्सा स्थानीय खपत के काम आवे। यह बीचखोरों द्वारा होने वाले शोषण को बचायेगा, कीमतों का एक हद तक स्थायित्व क़ायम कर देगा और देश की यातायात रीति, बैंक की सुविधा और करेंसी पर के कार्यभार को कम से कम कर देगा।

जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, भिन्न भिन्न चीज़ों के वास्ते आर्थिक स्वयं-पर्याप्तता के स्थानीय इकाई-क्षेत्र विभिन्न होंगे। कुछ चीज़ों के लिये, एक गाँव या तालुका इकाई बन सकता है; दूसरी चीज़ों के सम्बन्ध में यह एक जिला या प्रान्त तक भी हो सकता है। फिर भी साधारण तौर पर, कम से कम जहाँ तक भोजन, वस्त्र और घर जैसी जीवन की ज़रूरतों का सवाल है, एक काफी बड़ा गाँव या ५ मील के घेरे के अन्दर का एक ग्राम-समूह स्वयं-पर्याप्त बन सकता है।

प्रादेशिक आर्थिक इकाई-क्षेत्रों की प्रान्तों को वर्त्तमान् सीमाओं के अनुरूप होने की ज़रूरत नहीं है, जो युक्तिहीन और अवैज्ञानिक हैं। अतः प्रान्तों को भाषा और अर्थ सम्बन्धी विचारों के आधार पर फिर से विभक्त करना होगा। भिन्न भिन्न

आर्थिक इकाइयों में परस्पर देशी व्यापार-विशेषकर आपसी हित के आधार पर-विभिन्न ग्राम-मंडलों के नियंत्रण और निर्देश के साथ २ एक सीमा के अन्दर चलेगा। व्यक्तिगत लोगों को भी देशी व्यापार करने की इजाज़त मिल सकेगी, अलबत्ता वे क़ीमतों, मुनाफ़ों की हद और बाज़ारों के विस्तार के सम्बन्ध में सरकारी नियंत्रण के आधीन होंगे। एक स्थानीय आर्थिक इकाई केवल उन्हीं वस्तुओं को बाहर भेज सकेगी जो वहाँ प्रत्यक्षरूप से ज़रूरत से ज्यादा हैं अथवा जो सिर्फ वहीं पैदा हो सकती हैं। और वह केवल उन्हीं चीज़ों को बाहर से मँगा सकेगी जिनको वह उत्पन्न नहीं कर सकती है, किन्तु जो जीवन की कुछ आवश्यकताओं के रूप में उसके पास होना ज़रूरी हैं। उदाहरणार्थ रुई जो कपड़ा बनाने के लिये आवश्यक है, हर जगह उत्पन्न नहीं की जा सकती है। इसलिये रुई उपजाने वाले क्षेत्रों को उन क्षेत्रों को रुई भेजना पड़ेगा जहाँ उसकी खेती नहीं की जा सकती है। आजकल रुई मुख्यतः एक 'व्यापारिक फसल' के रूप में उपजाई जाती है। लेकिन अधिकतम स्वयं परिपूर्णता की दृष्टि से अनुसन्धान और प्रयोगों के द्वारा देश के बहुत से दूसरे हिस्सों में रुई की पैदावार सम्भव होनी चाहिये 'राष्ट्रीय शक्ति के अपव्यय से बचने के लिये श्रम या वस्तु-विनिमय के छोड़े जाने योग्य प्रत्येक कार्य्य को हटा देना संयोजित अर्थव्यवस्था का उद्देश्य होना चाहिये।' उत्पत्तिकर्त्ताओं और उपभोक्ताओ के बीच का रूढ़िगत भेद शनैः शनैः मिट जायगा। उत्पत्तिकर्त्ता उपभोक्ता और उपयोक्ता उत्पत्तिकर्त्ता होंगे।

वितरण

स्थानीयकरण अथवा स्थानानुसार उत्पादन और उपभोग के साथ वितरण को समस्या बड़े अंश में सुलझ जायगी। घरेलू उद्योग-धन्धावाद की प्रणाली मे केन्द्रीभूत समाजवादी शासन

वाले वितरण के पेंचीदे तरीके की जरूरत नहीं रहेगी। वितरण की ऐसी अपने आप ही ठीक हो जाने वाली न्याय-संगत प्रणाली के अभाव में, कुल राष्ट्रीय आय की एक खासी वृद्धि का भी प्रभाव केवल अमीरों की आबादी के भाग को और अमीर बनाने में ही खासकर होगा।

इस योजना के अनुसार छोटी-छोटी स्वयं-परितुष्ट आर्थिक इकाइयों के उत्पादकीय विकेन्द्रकिरण और आधारभूत उद्योगों और सार्वजनिक उपयोगिताओ के सरकारी स्वामित्व के साथ राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में 'लगान या कर-सूद जीवीवर्ग' को मुश्किल से ही कोई स्थान मिलेगा। सूद और मुनाफ़ा सम्बन्धी आर्थिक बुराइया आमदनियों की भिन्नता को घटाती हुई वृहदंश में लोप हो जायँगी।

शहरों की स्थिति

हिन्दुस्तान में शहर और देहात की आबादी के विभाजन का अनुमान हमें निम्नलिखित आंकड़ों से लगेगा :—

१९४१		१९३१		आबादी का प्रतिशत	
स्थान	आबादी‡	स्थान	आबादी	१९४१	१९३१
कुल आबादी ६५८,५९५	३८९·०	६६६,९२४	३३८·१	१००	१००
देहाती क्षेत्रों में ६५५,८९२	३३९·३	६६४,४४४	३००·३	८७	८९
शहरी क्षेत्रों में २,७०३	४९·७	२,४८०	३७·४	१३	११

‡आबादी 'दस लाख की संख्याओं' में दी गई है।

इस प्रकार शहरों की आबादी सारी आबादी का सिर्फ १३ प्रतिशत है। १९४१ की जन-गणना के अनुसार हिन्दुस्तान में १ लाख से ऊपर की आबादी वाले लगभग केवल ४१ शहर थे। शहरी आबादी का प्रतिशत-विस्तार आसाम के २·८ और बम्बई के २६·० के अन्दर है जो बड़े-बड़े प्रान्तो में सबसे ज्यादा शहरीपन को लिये हुये है। इसकी तुलना में फ्रान्स में शहरी आबादी ४९ उत्तरी आयरलेण्ड में ५०·८, इंगलेंड और वेल्स में ८० और संयुक्त राष्ट्र अमरीका में ५६·२ प्रतिशत है।*

हमारे देश में शहरी-ठसाठस का प्रश्न अपेक्षाकृत कम महत्व का है। भारत के शहरों के भविष्य के बारे में सिर्फ निम्नलिखित बातो का ध्यान मे रखना है।

(१) शहरी भीड़-भाड़ और उत्पत्ति के केन्द्रीकरण से बचने के लिये शहरों की संख्या में और अधिक वृद्धि को प्रोत्साहन नहीं देना है।

(२) स्वास्थ्य, सफ़ाई, आमोद-प्रमोद की सुविधाओं, शिक्षा, व्यापार और व्यवसाओं की दृष्टि से 'शहर-सुधार ट्रस्टों' के द्वारा मौजूदा नगरों को अधिक व्यवस्थित बनाना चाहिये।

(३) आजकल की तरह बड़ी मात्रा के और आधार-भूत उद्योगों को भी शहरों में केन्द्रित नहीं करना चाहिये। उनको आस-पास के गाँवों मे बिखेर देना चाहिये।

(४) शहरो को उपभोग की उन चीज़ों को पैदा करने की इजाजत नहीं देनी चाहिये जो आसानी से गाँवों में पैदा की जा सकती हैं। शहरों के उद्योगो को गाँव की उत्पत्ति के उद्योगो का केवल पूरक बनना चाहिये। शहरों को गाँव की पैदावार के वास्ते खासकर 'मंडियो' और 'निकास-घरों' का रूप लेना चाहिये।

---

* भारतीय अब्द-कोष-१९४३-४४.

(५) अधिकतम स्वयं-परिपूर्णता के दृष्टिकोण से भी शहरों को अपनी ज़रूरतों के लिये दूरवर्त्ती शहरों और प्रान्तों की अपेक्षा आस पास के गाँवों पर निर्भर रहना चाहिये। शहरों की आर्थिक स्वयं पर्याप्तता की इकाई का आकार उनकी वर्त्तमान आबादी पर अवलम्बित रहेगा। निःसन्देह, फ़सल की बर्बादी बाढ़ अथवा दूसरी आकस्मिक विपत्तियों के मामलों में इन छोटी छोटी आर्थिक इकाइयों को परिवर्त्तित और परिवर्धित करना होगा।

इसका अर्थ वर्त्तमान् रीति का विपरीतकरण होगा। आजकल द्रव्य का खिंचाव गाँवों से शहरों की तरफ है। इस योजना के अनुसार द्रव्य के बहाव की दिशा शहरों से गाँवों की तरफ होगी।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

चूँकि योजना का उद्देश्य अधिकतम राष्ट्रीय स्वयं-पर्याप्तता को प्राप्त करना होगा, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पारस्परिक लाभ के रूप में भिन्न-भिन्न देशों के, खास कर अतिरिक्त पदार्थों के विनिमय तक ही सीमित रहेगा। आयात का अर्थ मुख्यतः स्थानीय कमी को पूर्ण करना और राष्ट्र की यथार्थ और अनुभावित ज़रूरतों को सन्तुष्ट करना होगा। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की वर्त्तमान् प्रणाली प्रधानतः लोभ और शोषण पर आधारित है जो साम्राज्यवादी शक्तियो को गतिमान करते हैं और अन्ततोगत्वा जिनका परिणाम होता है रक्त-पिपासु युद्ध। इस योजना के अनुसार भारत पृथ्वी के किसी भी निर्बल राष्ट्र के आर्थिक शोषण में भाग नहीं लेगा और न वह अन्य देशों को अपने शोषण के लिये अनुमति ही देगा। इसके साथ ही वैदेशिक व्यापार ऐसी वस्तु से भारत घृणा नहीं करेगा। उदाहरण के तौर पर उसे मशीनरी की कुछ किस्में, औषध-

द्रव्य और चीर फाड़ के औजारों को मँगाने में हिचकिचाहट न होगी, यदि उनको यहाँ बनाना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार कुछ देशों की कुछेक खास वस्तुओ के निर्यात की माँगों को वह ठुकरा नहीं देगा जिनको उत्पन्न करना केवल उसी की सामर्थ्य में है। इस प्रकार के विनिमय से दोनों भागीदारों को फायदा पहुँचेगा और वह वांछनीय होगा। "विदेशों में उत्पादित वस्तुओं का मुख्यतः इसीलिये त्याग करना कि वे विदेशी हैं और स्वदेश में ऐसी वस्तुओं को उत्पन्न करने के लिये राष्ट्र के समय और द्रव्य को बर्बाद करते जाना, जिसके लिये वह उपयुक्त नहीं है, एक निन्दनीय मूर्खता और स्वदेशी भावना की अस्वीकृति* होगी।" इसके प्रतिकूल, कुछ उन वस्तुओं को मँगाना, जो आसानी से अपने निजी देश में बन सकतीं हैं और जो लोगों को एक बड़ी संख्या में काम दिला सकतीं हैं, उतना ही दोषपूर्ण और मूर्खता लिये हुये होगा। संसार की एक विवेक-संयुत अर्थ-व्यवस्था की योजना में व्यापारिक प्रभुत्व के लिये विदेश में माल को सस्ता बेचने एवं साम्राज्यवादी जबर्दस्ती से समर्थित 'साम्राज्यान्तर्गत रियायतों' के द्वारा निर्बल जातियों की आर्थिक लूटखसोट के लिये अवश्य ही कोई स्थान नहीं रहना चाहिये।

जिस प्रकार एक व्यक्ति या एक ग्राम-मंडल को आन्तरिक व्यापार के लिये 'व्यापार-प्रतिनिधि' होना चाहिये, ठीक उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिये एक राष्ट्र को होना चाहिये। दूसरे शब्दों में इस योजना की प्रत्यक्ष दृष्टि यह है कि हिन्दुस्थान का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार राष्ट्रीय सरकार द्वारा नियन्त्रित व संचालित होगा। उसको व्यक्तिगत व्यापारियों और व्यवसायियों के हाथों में नहीं छोड़ा जायगा, जो राष्ट्र

*Young India 18-6-1931.

के हित को अपने निजी स्वार्थमय फायदों के ऊपर नहीं रख सकते हैं।

प्रतिबन्ध रहित व्यापार अब डोडो पक्षी* की भाँति मुर्दा बन चुका है। 'मुक्त द्वार व्यापार इंगलैंड के लिये अच्छा हो सकता है जो असहाय लोगों के अन्दर अपने माल को सस्ते मूल्य पर बेचा करता है, और बाहर से सस्ती दरों पर अपनी आवश्यकताओं के पूर्ण होने की इच्छा रखता है। लेकिन इस निर्बाध व्यापार ने भारतीय कृषक-समूह को बर्बाद कर दिया है, क्योंकि उसने उसके घरेलू उद्योगो को नष्टप्राय कर डाला है। इसके अलावा कोई भी नया व्यवसाय या व्यापार संरक्षण के बिना विदेशी व्यापार से मुकाबिला नहीं कर सकता है।'‡ इसलिये हिन्दुस्तान के लिये यह जरूरी होगा कि कुछ चीजों का आयात या तो बिल्कुल ही बन्द कर दिया जाय या उन विदेशी चीजों पर ऊँचा संरक्षण-कर लगा दिया जाय। "हिन्दुस्तानी और अंग्रेजी व यूरोपीय हितों में कोई भेद न करना हिन्दुस्तान की गुलामी को चिरस्थायी रखना है। भला एक दैत्य और बौने में अधिकारों की समानता कैसी? असमान लोगों में बराबरी की बात सोचने के पहिले बौने को दैत्य की ऊँचाई तक ले जाना जरूरी है।

---

*लुप्त दीर्घकाय पक्षी विशेष

‡Young India 15-5-1924.

१३

श्रमिकों की भलाई

कृषि, घरेलू-उद्योग, बड़ी मात्रा के व्यवसाय, मौलिक धन्धों और सर्वजनोपयोगी कामों में लगे हुये कर्मचारियों के हित, निम्न बातों के सन्बन्ध में उपयुक्त क़ानून बनाकर, सरकार द्वारा सावधानी पूर्वक सुरक्षित रक्खे जांयगे :—

१—निर्वाह-योग्य मजदूरी।

२—काम करने की आरोग्य प्रद सूरतें।

३—काम करने के सीमित घंटे।

४—काम देने वालों और काम करने वालों के बीच झगड़ों के समझौतों के लिये उपयुक्त व्यवस्था।

५—वृद्धावस्था, बीमारी, आकस्मिक घटना और बेकारी से संरक्षण। 'सहयौगिक-बीमा' के सिद्धान्त का अनुसरण किया जा सकता है।

सरकार 'मौलिक अधिकारों' के कांग्रेस प्रस्ताव के अनुरूप निम्नांकित-साधारण नीति को काम में लायगी।

१—दासता अथवा दास्य-सान्निध्य की अवस्थाओं से श्रमिक-वर्ग की मुक्ति।

२—स्त्री-श्रमजीवियों का संरक्षण और विशेषकर मातृत्व काल में छुट्टी की यथोचित व्यवस्था।

३—स्कूल जाने की उम्र वाले बच्चों को खदानों और कारखानों में काम पर नहीं लिया जायगा।

४—किसानों और मजदूरों को अपने हितों की रक्षा के लिये अपनी सभायें बनाने का अधिकार होगा।

गांधीवादी आदर्शों के अनुरूप श्रमिक-कल्याण और मजदूर संघो के व्यवहारिक कार्य्य के सम्बन्ध में अहमदाबाद के वस्त्र-व्यापार-मजदूर-संघ का काम ध्यानपूर्वक अध्ययन के योग्य है।

१४

आबादी की समस्य

यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता है कि भारत को भी संसार के बहुत से अन्य देशों की तरह आबादी के एक वास्तविक प्रश्न का सामना करना है। लेकिन भारतीय और विदेशी दोनों अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों ने इस समस्या की गंभीरता पर बहुधा अत्याधिक जोर दिया है। श्री० एमरी ने यह प्रतिपादित किया है कि बंगाल का दुर्भिक्ष प्रधानतः इस देश में आबादी की असाधारण वृद्धि के कारण हुआ है। अब श्री० चर्चिल का दावा है कि हिन्दुस्तान की आबादी की बढ़ती की गति 'विश्व भर की किसी भी बढ़ती को लांघ गई है।' निम्न आंकड़ों से यह स्पष्ट हो जायगा कि ये कथन त्रुटिपूर्ण हैं* :—

आबादी की वृद्धि का प्रतिशत

(१८८१ से १९३१ तक)

इंगलैंड और वेल्स	५०
हालेण्ड	६०
आस्ट्रेलिया	१६६
न्यूजीलेण्ड	१७२
जापान	७४
संयुक्तराष्ट्र अमरीका	१८६
भारत (बर्मा समेत)	३५

*The Measurement of Population Growth by R. R. Kueznski.

तथापि यह अवश्य जता देना चाहिये कि संयुक्तराष्ट्र अमरीका, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलेंड जैसे कुछ देशों में आबादी की वृद्धि अंशतः बाहर से आ बसने वालों के कारण हुई है। किन्तु तो भी तथ्य यह है कि हिन्दुस्तान के सामने बढ़ती जाने वाली आबादी की कोई असाधारण समस्या नहीं है।

यह सच है कि आर्थिक योजनाओं में जनसंख्या का नियंत्रण अंशतः अन्तर्निहित है। पश्चिम ने सन्तति-निरोध के कृत्रिम तरीके खुले तौर पर बरते जा रहे हैं। किन्तु इस प्रकार के अप्राकृतिक तरीको के प्रति गांधीजी का रुख सुविदित है। गर्भ-निरोध उनके अनुसार एक 'अन्ध कूप' है। 'यह मानते हुये कि कृत्रिम साधनों से सन्तान-निग्रह किन्हीं विशेष अवस्थाओं में न्याय-संगत हो, तो भी वह करोड़ों के जन-समूह में उपयोग के लिये बिलकुल अव्यवहार्य प्रतीत होता है। मुझे तो गर्भ-निरोधक उपायों द्वारा निग्रह की अपेक्षा उनको आत्म-संयम का अभ्यास करने के लिये प्रवृत्त करना अधिक आसान लगता है।'

'कृत्रिम तरीके दुश्चरित्रता को प्रोत्साहन देने के समान हैं। वे स्त्री और पुरुष को स्वच्छन्द बना देते हैं।......कृत्रिम उपायों का अवश्यम्भावी परिणाम धातु-दौर्बल्य और स्नायविक क्षीणता है। यह इलाज बीमारी से भी बदतर पाया जायगा'।*

हिन्दुस्थान की आबादी में अनुचित वृद्धि को रोकने का एक मात्र व्यावहारिक और वांछनीय उपाय जन-साधारण को आत्म-संयम और ब्रह्मचर्य की शिक्षा देना है। उनके रहन सहन के स्तर की उन्नति भी संख्याओ की वर्त्तमान वृद्धि को कुछ अंश में रोकेगी।

---

*Self-Restraint Vs. Self-Indulgence by M. K. Gandhi.

१५

राजस्व, कर निर्धारण और करेन्सी

हिन्दुस्तान की राजस्व और कर-निर्धारण की वर्तमान रीति ऊँचे पदों पर भारी खर्च वाली और न्याय-रहित है। अतएव इसका आमूल-चूल रूपान्तर करना होगा।

विगत तीन दशाब्दियों में भारत के सरकारी खर्च में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई है। लेकिन जैसा स्वर्गीय गो० कृ० गोखले ने संकेत किया था:—

'यह जरूरी नहीं है कि सरकारी खर्चे की वृद्धि अवश्य ही खेद या खतरे की बात है। इस मामले में सब कुछ इस बात पर निर्भर है कि यह वृद्धि किस तरह के उद्देश्यों के लिये हुई है, और ऐसे सरकारी खर्चे के नतीजे क्या निकले हैं।'

'श्री० रमेशचन्द्र दत्त ने लिखा था कि 'राजा के द्वारा वसूल किया गया कर पृथ्वी की उस आद्रता के समान है जो सूर्य के द्वारा सोखी जाकर जीवनदायिनी जल-वृष्टि की तरह पृथ्वी को ही लौटा दी जाती है। भारत-भूमि से इकट्ठी की गई आद्रता आजकल अधिकतर जीवन-प्रदायक मेघ की तरह दूसरे देशों पर बरसती है, भारत पर नहीं।'*

इस पुस्तिका के कलेवर के अन्तर्गत इस देश के राजस्व और कर-निर्धारण-प्रणाली के अनेक प्रश्नों के विस्तार में जाना असम्भव होगा। फिर भी निम्नलिखित बातों को विशेष रूप से बता देना आवश्यक है:—

*Economic History of British India under British Rule.

(१) कर का भार न्याय संगत होगा; यह ग़रीब कर देने वाले पर अनुचित रूप से भारी दबाव नहीं डालेगा ।

(२) इस विचार से, उदाहरणार्थ, आय-कर और अतिरिक्त कर जैसे मौजूदा प्रत्यक्ष कर यथाक्रम चढ़ते उतरते होंगे ।

(३) नमक-कर बिलकुल हटा दिया जायगा ।

(४) मादक द्रव्यों पर आबकारी-करों से हुई आमदनी रोक दी जायगी । औषधोपयोगी कामों के सिवा मादक पेयों और पदार्थों को सम्पूर्ण रूप से बन्द कर दिया जायगा ।

(५) एक उचित 'न्यूनतम' के ऊपर खेती की आमदनियों पर क्रमिक कर लगाया जायगा ।

(६) एक नियत न्यूनतम के ऊपर की जायदाद पर यथाक्रम 'मृत्यु कर' और 'उत्तराधिकार टैक्स' लगाए जायँगे ।

(७) गरीब किसानों को अधिकतम सहारा देने के लिये मौजूदा खेतों की मालगुजारी और लगान में भारी कमी की जायगी । बेमुनाफ़ेदार खेत लगान की अदायगी से क़तई बरी रहेंगे ।

(८) करों को जिन्स में चुकाने की पुरानी प्रथा को खासकर देहातों में प्रोत्साहन मिलेगा ।

(९) फ़ौजी खर्च में ज़बरदस्त कमी की जायगी ताकि वह वर्तमान परिमाण का कम से कम आधा तो कर ही दिया जाय ।

(१०) स्वास्थ्य, शिक्षा और अन्वेषण जैसी 'सार्वजनिक उपयोगिताओं' की सेवाओं पर खर्च बढ़ाया जायगा ।

(११) 'सिविल सर्विस' विभाग मे वेतन-खर्च को बहुत कम कर दिया जायगा । विशिष्ट तौर पर नियुक्त विशेषज्ञों और ऐसों को छोड़कर किसी सरकारी कर्मचारी को किसी नियत अंक से ऊपर वेतन नहीं दिया जायगा जो साधारण तौर से ५००) रु० मासिक से ऊपर नहीं बढ़ेगा ।

इस सम्बन्ध में विभिन्न देशों में कुछ महत्वपूर्ण पदों के वेतन के निम्न आंकड़ों का अध्ययन करना रुचिकर होगा ।*

(पौण्डों में)

		प्रति वर्ष
ग्रेट ब्रिटेन का प्रधान सचिव	...	८,०००
ब्रिटिश मंत्रि-मंडल का मंत्री	...	५,०००
संयुक्त राष्ट्र अमरीका का राष्ट्रपति	...	•१५,०००
संयुक्त राष्ट्र अमरीका का मंत्री	....	३,०००
हिन्दुस्तान का गवर्नर-जनरल— (२०,००० अतिरिक्त अलाउन्स समेत कुल खर्च का योग)	...	१,३०,००० के ऊपर
कैनाडा का गवर्नर-जनरल	....	१०,०००
आस्ट्रेलिया ,, ,, ...	....	८,०००
दक्षिण अफ्रीका के संघ का गवर्नर-जनरल	....	१०,०००
भारत के सूबों का गवर्नर ...		५,००० से १०,००० तक
संयुक्त राष्ट्र अमरीका के प्रादेशिक गवर्नर		१००० से ५००० तक

करेन्सी

करेन्सी या चलन पद्धति में एक क्रान्तिकारी पुनर्संगठन की आवश्यकता है। राष्ट्र की करेन्सी की व्यवस्था सरकार इस प्रकार करेगी जिससे कि प्रचलित 'नक़द्-बन्धन' समाप्त हो जाय। द्रव्य का प्राथमिक आशय वस्तुओं के विनियम के साधन के रूप में था। लेकिन आज द्रव्य स्वयं एक महत्वपूर्ण पदार्थ के रूप में बढ़ चुका है जिससे लोगों की शान्ति और सुख को अपहरण करना सम्भव हो जाता है। करेन्सी और अर्थ-प्रबन्ध की वर्तमान प्रणाली इतनी दुर्बोध और पेचीदी हो गई है कि

*Harijan, 2-8-1937.

'इंगलेन्ड के बैंक' के गवर्नर तक को यह स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ा है कि 'मैं इसे नहीं समझता हूँ।' इस प्रकार की रहस्यमयी प्रणाली की बाबत एक साधारण व्यक्ति के लिये केवल चुप रहना और एक लाचार दर्शक की भांति बने रहने के सिवा कोई चारा नहीं है। एक किसान को, भले ही वह साल ब साल एक ही परिमाण मे फ़सल उत्पन्न करे, क़ीमत की घट-बढ़, करेन्सी-स्फ़ीति और संकुचन की दया पर रहना होता है जो उसके वश के परे हैं।

अतएव करेन्सी को बहुत सरल और अधिक युक्त-संगत बनाना होगा। सरकार अथवा जनता के प्रतिनिधियों द्वारा नियमित और व्यवस्थित होने पर इसको अर्थ-पतियों और कम्पनियों के हिस्सों के दलालों के हाथ की खिलवाड़ नहीं बनने दिया जायगा। सरकार निर्यात, आयात और अंतर्राष्ट्रीय बेङ्किग पर नियंत्रण रक्खेगी और आंतरिक वाणिज्य और व्यापार के आकार के साथ साथ करेन्सी को घटाया और बढ़ाया करेगी। इस तरह से आंतरिक क़ीमतों में स्थायित्व क़ायम रक्खा जायगा। सोवियट रूस के 'रूबल नोटों' की भाँति भारतीय करेन्सी का प्रभाव ख़रीदारों की कार्यवाहियों के सम्पूर्ण चेत्र पर ठीक उसी भांति पड़ेगा जिस प्रकार डाक के टिकटों का प्रभाव डाक-सम्बन्धी सेवा की अकेली वस्तु के ऊपर सर्वत्र रहता है।*

चूंकि अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को न्यूनतम कर दिया जायगा, आंतरिक, करेसी में विदेशी विनिमय और अंतर्राष्ट्रीय क़ीमतों की सतह के उतार-चढ़ाव से अधिक गड़बड़ी नहीं होने पायगी। आयात की अदायगी वस्तुओं के वास्तविक निर्यात के द्वारा करने से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को 'बार्टर' के अपने असली रूप में परिणत कर दिया जायगा।

*Webb's Soviet Communism p. 1195.

'बार्टर प्रथा' के राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में पुनः प्रवेश से आंतरिक करेन्सी की ज़रूरत स्वतः कम हो जायगी। जिन्स द्वारा मालगुज़ारी और भूमि-करों को अदा करने के लाभों का पर्यालोचन ज़मीन की मिलकियत के सम्बन्ध में पहिले ही कर दिया गया है। गांव के कारीगरों, अध्यापकों, डाक्टरों और स्थानीय अफसरों को भी अंशतः जिन्स में अदा किया जा सकता है जैसा कि अभी भी बहुतेरे गांवों में होता है। चूंकि एक बड़े अंश में आंतरिक व्यापार स्थानीय बना दिया जायगा, करेन्सी के महत्व और फलतः उसकी शरारत में बहुत कुछ कमी आ जायगी। गांव वालों के लिये किसी प्रकार की 'वस्तु-निर्देशक-करेन्सी' को अपनाना पर्याप्त होगा, जिसका मूल्य खाद्य-सामग्री, कपड़ा और दूध ऐसे कुछेक उपयोग्य पदार्थों के परिमाण के रूप में नियत कर दिया जायगा। इस सम्बन्ध में गोपुरी (वर्धा) में आजमायी गई सूत-करेन्सी की योजना का अध्ययन रोचक होगा।

१६

शासन-प्रबन्ध

इस पर पहिले ही ज़ोर दिया जा चुका है कि इस योजना का केन्द्र-विन्दु उत्पत्ति का विकेन्द्रीकरण है। यह सिद्धान्त आवश्यक रूप से शासन-व्यवस्था पर भी लागू होगा।

ग्राम पंचायत शासन-सम्बन्धी सबसे छोटी इकाई होगी जो भीतरी मामलों में यथा-सम्भव ज्यादा से ज्यादा स्वतंत्र रहेगी। शासन की दूसरी इकाई गांवों की एक संख्या जैसे दस को एक साथ लेकर बनेगी, जिसको 'ग्राम-संघ-पंचायत' का नाम दिया जा सकेगा। यह सभा अपने अधीनस्थ गांवों के कार्यों को परस्पर सम्बन्धित करेगी। इस तरह की ग्राम-संघ-पंचायतों की एक संख्या, वर्तमान तहसील या ताल्लुका के समकक्ष, शासन की उच्चतर इकाई बनेगी। फिर कई तालुकों के लिए जिला-सभायें होंगी। कस्बों के लिए नगर-पालिका-सभायें होंगी। ज़िला-सभाओं और नगर-पालिकाओं के ऊपर हमारे यहाँ कमिश्नरी की सभायें और प्रान्तीय परिषदें होंगी। प्रान्तीय परिषदें अपने प्रतिनिधियों को केन्द्रीय केन्द्रीय सभा में भेजेगी जो सारे राष्ट्र के लिये शासन और क़ानून सम्बन्धी सर्वोच्च सभा होगी। चुनाव के सम्बन्ध में ग्राम-पंचायतों के लिये सब प्रौढ़ों को मताधिकार होगा और चुनाव सीधे प्रत्यक्ष रूप से होंगे। किन्तु दूसरी ऊंची सभाओं में चुनाव परोक्ष रूप से होंगे और हर एक नीचे की सभा अपने से ठीक ऊंची शासन-सभा में अपने प्रतिनिधि चुनकर भेजेगी। यद्यपि ग्राम-पंचायत तहसील, जिला, ताल्लुका, प्रान्त और

सम्पूर्ण देश से सम्बन्धित रहेगी तथापि राष्ट्रीय शासन की वह आधार-भूत इकाई होगी।

आर्थिक विकास की इस योजना को अमली रूप देने के लिये यथासम्भव अधिक से अधिक स्वतंत्रता को लिये हुये ग्राम-मंडलों के पुनरुद्धार पर सबसे अधिक जोर दिया जायगा यद्यपि एक केन्द्रीय राष्ट्रीय योजना समिति अपनी प्रान्तीय शाखाओं के साथ काम करेगी।

प्रस्तावित शासन-व्यवस्था का यह कोरा खाका मात्र है। देश के लिये एक विस्तार-युक्त विधान का रेखा-चित्र बनाना इस पुस्तिक के विषय से बाहर होगा।

१७

बजट

(आय व्यय का ब्योरा)

अभी तक केवल आधारभूत सिद्धान्तों और साधारण नीति के कुछ ब्योरों की विवेचना और व्याख्या की गई है। अब इस योजना के आर्थिक पहलुओं अर्थात् आवर्त्तक और अनावर्त्तक खर्चों के अनुमान और आमदनी के भिन्न-भिन्न ज़रियों पर विचार करना ज़रूरी है। सारे तख़मीने लड़ाई के पहिले की क़ीमतों के अनुसार हैं।

खर्चे की मदें

(अ) कृषि—हम पहिले खेती को ही लेते हैं। ज़मीन के राष्ट्रीयकरण के लिये प्राप्त की गई ज़मीनों के असली वार्षिक लगान के दस गुने के हिसाब से लगभग २०० करोड़ रुपया मुआविज़े में लग सकता है।* क़रीब १७०० लाख एकड़ खेती के लायक़ ऊसर ज़मीन की पुनर्प्राप्ति में २० रु० प्रति एकड़ के हिसाब से लगभग ३५० करोड़ रुपये की पूँजी की ज़रूरत होगी। ज़मीन के क्षय को रोकने के लिये, १०० करोड़ रुपयों का इन्तज़ाम काफी होगा। इस दोनों हिसाबों में चालू खर्च हरएक में करीब ५ करोड़ रुपया होगा।

१९३८-३९ में, मौजूदा नहरों की कुल लागत पूँजी १५३ करोड़ रुपया थी। यह मानते हुये कि सिंचाई की वर्तमान सुविधाओं को दुगुना कर दिया जाता है, तो इस काम के लिये

---

*Principles of Planning by K. T. Shah.

१५० करोड़ रुपये की आवश्यकता होगी। कुयें, तालाब आदि के बनाने में क़रीब २५ करोड़ रुपया अतिरिक्त खर्च होगा। चालू खर्च ५ करोड़ लगेगा। १० वर्षों में लगभग १०० करोड़ रुपया प्रयोगात्मक खेतों में खर्च किया जा सकेगा जो गाँव वालों के लिये नमूने के खेतों का भी काम देंगें। उनकी वार्षिक आमदनी का विचार करते हुये, इन खेतों पर मोटे रूप से चालू खर्च २५ करोड़ रुपये होगा।

इसके सिवा, किसानों को बेहतरीन औज़ार ख़रीदने, अपने मवेशियों को सुधारने और खेती बारी में अन्य सुधार चालू करने योग्य बनाने के लिये सरकार को सस्ती साख-सुविधाओं की व्यवस्था करनी होगी। प्रत्येक ग्राम के लिये ४००० रु० के हिसाब से अनुमान करते हुये, कृषि सम्बन्धी सुधारों के अर्थ-प्रबन्ध के लिये क़रीब २५० करोड़ रु० की कुल पूँजी की आवश्यकता होगी। यह, निसन्देह, स्थायी लागत होगी और लगभग २० वर्षों में वापिस प्राप्त हो जायगी।

इस योजना की अवधि मे कृषि के लिये आवश्यक पूँजी का कुल मीज़ान इस तरह होगा।

(करोड़ों में)

	अनावर्तक खर्च	आवर्त्तक खर्च
भूमिका राष्ट्रीयकरण	२००	
ज़मीन की पुनर्प्राप्ति	३५०	५
भूमि-विलयन	१००	५
सिंचाई	१७५	५
प्रोयगात्मक खेत	१००	२५
साख-सुविधायें	२५०	
मीज़ान	१,१७५	४०

इतना व्यय करने पर यह अनुमान किया जाता है कि १० वर्ष के समय में खेती की आमदनी दुगुनी हो जायगी।

(आ) देहात के धन्धे—ग्रामीण उद्योगों के लिये सस्ती साख-सुविधाओं की व्यवस्था सबसे बड़ी आवश्यकता है। कृषि के सहायक धन्धों और दूसरे घरेलू शिल्पों की उन्नति के लिये हरेक गांव के लिये ५००० रु० की ज़रूरत का अनुमान लगाया जाता है। यह रकम ग्राम-पंचायतों या सहकारी बैन्कों को २० वर्ष में वापिस मिलने वाले लम्बी अवधि के कर्जे के रूप में दे दी जायगी। इस तरह देहात के उद्योगों के लिये सस्ती साख-सुविधायें प्रदान करने में कुल स्थायी खर्च ३५० करोड़ रु० होगा।

(इ) बड़ी मात्रा के और आधार-भूत उद्योग—भारत में बड़ी मात्रा के उद्योगीकरण के लिये पूंजी सम्बन्धी आवश्यकताओं का सही अन्दाजा लगाना मुश्किल है। वर्तमान व्यवसायिक उद्योगों में लगी हुई पूंजी के निश्चित आंकड़े भी प्राप्त नहीं हैं। सर म० विश्वेश्वैरिया* के अनुसार, भारतीय व्यापार व्यवसायों में लगी हुई कुल 'चुकता पूंजी' ७५० करोड़ रुपया है, जिसमें से करीब ३०० करोड़ विदेशी व्यवसायों के अधिकार में है। बाकी बचे हुये ४५० करोड़ में से, हम मान सकते हैं, कि लगभग २०० करोड़ हिन्दुस्थानियों द्वारा अधिकृत उद्योगों में लगाये गये हैं। सरकार को १० वर्ष के अन्दर विदेशी औद्योगिक व्यवसायों और भारत के आधार-भूत धन्धों को खरीद लेना पड़ेगा। इसमे करीब ५०० करोड़ रु० की पूंजी खर्च होगी। यदि सैन्य-रक्षा समेत आधारभूत उद्योगों की उन्नति पर सरकार ५०० करोड़ रु० और खर्च कर देती है, तो इस काम के लिये जरूरी कुल पूंजी १००० करोड़ रुपया होगी।

*Propriety through Industry page 7.

(ई) सार्वजनिक उपयोगी कार्य्य—

(१) यातायात—१९३८-३९ में भारत की रेलों में लगाई हुई कुल पूंजी लगभग ८५० करोड़ रुपया थी। अधिकांश रूप में यह पूंजी आजकल सरकार द्वारा अधिकृत है। यह मानते हुये कि दस वर्ष के समय के अन्दर रेलो की कुल मील-संख्या में २५% बढ़ती हो जाती है तो क़रीब २०० करोड़ रुपया की नई 'लागत-पूंजी' की आवश्यकता होगी। व्यवस्था का चालू खर्च ५ करोड़ रुपया होगा।

आजकल सड़कों की कुल मील-संख्या लगभग ३५०,००० है। इसमें २,००,००० मील, खासकर, देहाती क्षेत्रों में कच्ची सड़कों का और बढ़ाना वांछनीय होगा। ५,००० रुपया प्रति मील की दर से लगाते हुये, कुल खर्च १०० करोड़ रुपया और व्यवस्था का खर्च ५ करोड़ रु० वार्षिक होगा।

बड़ी मात्रा के और मौलिक व्यवसायों पर के ५०० करोड़ रुपये की 'लागत पूंजी' में विदेशी और भारतीय जहाजी कारबारों को धीरे धीरे खरीद लेने की व्यवस्था कर दी गई है। किनारे के बन्दरों और मौजूदा जहाजी यातायात को उन्नत करने के लिये शुरू २ में २५ करोड़ रु० काफी होगा। इस योजना की अवधि में व्यापार के लिये जहाजी बेड़े की अभिवृद्धि के वास्ते ५० करोड़ रु० व्यय किया जा सकता है। किनारे की जहाजरानी और व्यापार के जहाजी बेड़े का व्यवस्था-खर्च क़रीब ५ करोड़ रुपया होगा।

मुल्की हवाई यातायात, डाक और तार की सुविधाओं के प्रसार के लिये प्रारम्भिक 'पूंजी खर्च' क़रीब २५ करोड़ रु० हो सकता है।

यातायात पर कुल खर्च इस तरह होगा :—

	(करोड़ रुपयों में)	
	अनावर्तक	आवर्त्तक
रेलें	२००	५
सड़कें	१००	५
तटीय जहाजरानी और व्यापारिक जहाजी बेड़ा	७५	५
हवाई यातायात, डाक और तार	२५	
योग	४००	१५

(२) सार्वजनिक स्वास्थ्य—प्रत्येक ग्राम में जच्चा-बच्चा की सेवा के लिये एक शिक्षित दाई और डाक्टर वाला घरेलू शफाखाना होगा। करीब ८०० वर्ग गज जमीन को लेकर एक सादा मकान बनवाने की लागत अन्दाजन ६०० रुपया होगी। प्रारम्भिक सामानादि के खर्च पर करीब ५०० रु० लगेगा। यह खर्च, जो प्रान्तीय सरकारें उठाएँगी, ७५ करोड़ रु० हो जायगा। डाक्टर और नर्स के वेतन को शामिल करते हुये इस चालू खर्च का आधा ग्राम-पंचायत को देना होगा; दूसरा आधा प्रान्तीय सरकार को उठाना पड़ेगा। प्रत्येक गाँव के शफाखाने पर १००० रु० वर्षिक के हिसाब से लगाते हुये तमाम देश के लिये इस चालू खर्च का आधा ३५ करोड़ रु० होगा।

शहरी क्षेत्रों में, प्रत्येक १०,००० मनुष्यों के लिये एक सुसज्जित अस्पताल होगा। इस हिसाब से भारतीय कस्बों में कम से कम ५,००० नागरिक अस्पतालों की जरूरत होगी। यह मानते हुये कि फिलहाल क़रीब २००० अस्पताल हैं, और ३००० नागरिक अस्पतालों की व्यवस्था करनी होगी। प्रसूतिका की सुविधाओं के समेत, रोगियों के लिये ४० चारपाइयों वाले हर

एक अस्पताल के बनाने में लगभग ५०,००० रु० लगेगा। इस तरह मकानों पर का कुल खर्च करीब १५ करोड़ रु० होगा। हर एक अस्पताल पर आवर्त्तक वार्षिक व्यय अन्दाजन २०,००० रु० होगा। इसलिये कुल चालू खर्च ५ करोड़ रु० हो जायगा।

क्षय रोग, कुष्ठ, दूषित घाव, जननेंद्रिय-सम्बन्धी रोग और दिमागी खराबियों आदि के लिये विशेष अस्पताल स्थापित करने में सरकार १० करोड़ रुपया और खर्च करेगी।

देहातों में सफाई, पानी-प्रबन्ध और घरों के सुधार के लिये सरकार को १०० करोड़ रुपये की पूँजी लगानी चाहिये। स्वास्थ्यकर पीने के पानी के प्रबन्ध के लिये गाँवों में और अधिक कुँयें खुदवाना आवश्यक है। यद्यपि सफाई और रोशनी की दृष्टि से अपने घरों को सुधारने का अधिकांश खर्च गाँव वाले स्वयं उठा लेंगे, तथापि इन कामों के लिये प्रान्तीय सरकारों को आंशिक आर्थिक सहायता देनी चाहिये। यदि प्रत्येक ग्राम में सफाई, पानी-प्रबन्ध और घरों के सुधार पर २००० रु० खर्च होता है तो करीब १२५ करोड़ रु० की कुल रकम की जरूरत होगी। शहरों में जल-व्यवस्था के सुधार पर २५ करोड़ रु० खर्च किया जा सकता है। जल-प्रबन्ध सम्बन्धी सुविधाओं का व्यवस्था खर्च मुख्य कर ग्राम-पंचायतों और नगर-पालिकाओं द्वारा उठाया जायगा। फिर भी शुरू शुरू में ५ करोड़ रुपया इस अस्थायी खर्च के लिये रक्खा जा सकता है।

इसलिये सार्वजनिक स्वास्थ्य पर कुल खर्च का जोड़ इतना होगा :—

	(करोड़ रुपयों में)	
	अनावर्तक	आवर्त्तक
गाँव के शफाखाने	७५	३५
आम नागरिक अस्पताल	१५	५
विशेष अस्पताल	१०	
सफाई, जलप्रबन्ध और मकान-सुधार	१६०	५
योग	२६०	४५

(३) शिक्षा :—

(१) बुनियादी तालीम—हर एक गांव में एक बुनियादी मदर्सा होगा जहाँ, यदि सम्भव हुआ तो सब सात दर्जे रहेंगे। देहातों में बुनियादी स्कूलों के लिये मकान बनवाने की लागत प्रतिश: २००० रु० के आसपास होगी। इस तरह गांवों में मकानों पर कुल स्थायी खर्च १३२ करोड़ रुपया हो जायगा। इस खर्च का आधा, यान ६६ करोड़ रु० प्रान्तीय सरकारों द्वारा उठाया जाना चाहिये। दूसरा आधा ग्राम-पंचायतों द्वारा अदा किया जायगा, जो अंशतः हस्त-श्रम के रूप में होगा। शहरी क्षेत्रों में, बुनियादी मदर्सों के लिये नये मकान बनवाने पर लगभग १४ करोड़ रु० खर्च हो सकेगा। देहाती और शहरी दोनों तरह के मदर्सों के लिये बुनियादी हुनरों के साज-समान के लिये २० करोड़ रुपये का अनुमान लगाया जा सकता है। इस प्रकार बुनियादी तालीम पर कुल स्थायी खर्च १०० करोड़ रुपया होगा।

सेवाग्राम में हिन्दुस्तानी तालीमी संघ के निरीक्षण में किये गये प्रयोगों के अनुसार, बुनियादी स्कूलों के अध्यापकों के वेतन के दो तिहाई हिस्से को विद्यार्थियों के हस्त-श्रम की कमाई में से

आसानी से निकाला जा सकता है, खासकर तब, जब कि कताई और बुनाई को बुनियादी धन्धे बनाया जाता है। वेतन का शेष एक-तिहाई देहात में ग्राम-पंचायतों और शहरों में 'नगर-पालिकाओं' द्वारा चुकाया जाना चाहिये। तथापि इस योजना की प्रारम्भिक अवस्थाओं मे प्रान्तीय सरकारों द्वारा देहाती और शहरी बुनियादी स्कूलों की 'व्यवस्था में सहायता देने के लिये' २५ करोड़ रुपया खर्च किया जा सकता है।

(२) माध्यमिक शिक्षा—इस योजना के अन्तर्गत विचाराधीन माध्यमिक पाठशालाओं की किस्म का कल्पना-चित्र पहिले ही यथा-स्थान दिया जा चुका है। वे अल्पाधिक रूप में उत्पादक धन्धों के द्वारा शिक्षा प्रदान करने वाले ऊंचे दर्जे के शिल्प-विज्ञान संयुत-विद्यालय होंगे। ऐसे विद्यालयों के लिये और मकान बनवाने में प्रान्तीय सरकारों को लगभग २५ करोड़ रुपया खर्च करना पड़ सकता है। आवश्यक परिवर्तन करके वर्तमान हाई स्कूलों के मकानों को निःसन्देह उपयोग में लाया जायगा। बुनियादी धन्धों या उद्योगों के लिये उपयुक्त साज-सामग्री के वास्ते भी २५ करोड़ रुपयो की आवश्यकता हो सकती है।

वेतन आदि के अस्थायी व्यय के सम्बन्ध में, बुनियादी मदर्सों की तरह ही माध्यमिक पाठशालायें भी अपने उत्पादन काम की आय में से खर्च का क़रीब दो-तिहाई हिस्सा बर्दाश्त करने में समर्थ होंगी। बाकी प्रान्तीय सरकारों द्वारा चुकाया जाना चाहिये। सार्जेण्ट योजना के अनुसार इन विशिष्ट शिल्प-संयुत विद्यालयों में छात्रों की संख्या १ करोड़ होगी। प्रति विद्यार्थी ५५) रु० वार्षिक के हिसाब से लगाते हुये, आवर्त्तक खर्चे की सरकार द्वारा बर्दाश्त किये जाने वाले एक तिहाई हिस्से की रकम लगभग २० करोड़ रुपया हो जायगी।

फिर भी यह स्पष्ट रूप से बता दिया जाना चाहिये कि बुनियादी और विशिष्ट स्कूलों द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री की व्यवस्था का उत्तरदायित्व अवश्य ही सरकार पर रहेगा।

(३) प्रौढ़-शिक्षण :—१९४१ की जन-गणना के आधार पर साक्षर बनाये जाने के लिये निरक्षर प्रौढ़ों की कुल संख्या लगभग १७ करोड़ ५० लाख है। हाल के वर्षों के अन्दर प्रान्तीय सरकारों द्वारा किए गये प्रयोग बताते हैं कि देश में साक्षरता-प्रसार के लिये ४) रु० प्रति प्रौढ़ व्यक्ति के लिये आवश्यक होगा। इस हिसाब से समस्त भारत की निरक्षरता का नाश करने की लागत ७० करोड़ रुपया होगी। मकानों का, जहां तक सम्बन्ध है, स्थानीय बुनियादी या माध्यमिक विद्यालयों में प्रौढ़ों के लिये रात्रि-कक्षायें चलनी चाहिये। बहुत करके, बुनियादी मदर्सों के अध्यापक स्वयं ही इन रात्रि-कक्षाओं को चला भी सकते हैं।

चीन के 'लघुपाठक' आन्दोलन में बड़ी सम्भावनायें अर्थगर्भ हैं। बालक-बालिकायें अपने माता-पिता और सम्बन्धियों के 'लघु-प्राठक' बन सकते हैं। यदि यह प्रयोग सफलता पूर्वक आजमाया जाता है तो प्रौढ़ शिक्षा पर खर्च प्राय: नगण्य होगा।

(४) विश्व-विद्यालय-शिक्षण :—यद्यपि भारत में और विश्वविद्यालय स्थापित करने के लिये व्यक्तिगत उद्योगों को प्रोत्साहन मिलना चाहिये, तथापि मौजूदा कालिजों और विश्व-विद्यालयों की दी जाने वाली सरकारी सहायत एक दम अचानक बन्द नहीं की जा सकती। उच्चतर शिक्षा की वर्तमान प्रणाली में सुधारों की भी कुछ व्यवस्था करनी ही होगी। उदाहरण के लिये, मातृभाषा माध्यमों के प्रचलन से अध्यापक-वर्ग और उपयुक्त पाठ्य-पुस्तकों की तय्यारी पर अतिरिक्त व्यय करना आवश्यक होगा। मिस्टर सार्जण्ट के आंकड़ों के अल्पाधिक आधार पर विश्वविद्यालयों की शिक्षा पर कुल आवर्तक खर्च

का अन्दाजा ५ करोड़ रु० वार्षिक लगाया जा सकता है।

(५) कार्यकर्ता-वर्ग का शिक्षण :—इस योजना को कार्यान्वित करने के लिये योग्य कार्य कर्त्ताओं की एक सेना तैयार करने में एक बहुत बड़ी रकम की आवश्यकता होगी। डाक्टर, नर्स, अध्यापक, शिल्पी, इन्जीनियर, सामाजिक और ग्राम्य कार्यकर्त्ता और घरेलू उद्योग-विशेषज्ञ इत्यादि के लिये यथा सम्भव जल्दी से जल्दी शिक्षण-विद्यालय स्थापित करने होंगे। विदेशी विशेषज्ञों की सहायता और मार्ग-प्रदर्शन प्राप्त किया जाकर उसका उपयोग होना चाहिये। इस कार्य के लिये जो जो वास्तविक स्थायी और अस्थायी खर्च होगा उसका अनुमान लगाना कठिन है। लेकिन इस योजना के अवधि-काल में, ७५ करोड़ रु० के स्थायी खर्च और ५० करोड़ रु० के अस्थायी खर्च की व्यवस्था करना युक्ति-संगत होगा।

रुपये के अलावा, राष्ट्रीय सेवा की भावना में रँगे हुये सही प्रकार के नवयुवको को चुनना और उन्हें तय्यार करना होगा। डाक्टर, इन्जीनियर या अध्यापक किन्हीं भी कार्यकर्त्ताओं की शिक्षा-दीक्षा में एक निश्चित देहाती प्रवृत्ति होगी, क्योंकि हिन्दुस्तान की आबादी का नव-दशमांश ($\frac{9}{10}$) गाँवों में रहता है। नवयुवकों का एक समुदाय ही जो अपने आप को जनसाधारण से अभिन्न बनाने की भर-सक कोशिश करके अल्प वेतन पर काम करेगा, इस योजना को या इस अर्थ के लिये, किसी दूसरी योजना को वास्तविक सफलता प्रदान कर सकेगा। यह तो बिना कहे ही सिद्ध है कि सिर्फ एक सच्ची राष्ट्रीय सरकार ही हमारे नवयुवकों को प्रेरणा और उत्साह प्रदान कर सकती है।

कुल मिलाकर शिक्षा पर खर्च यह होगा :—

	(करोड़ रुपयों में)	
	अनावर्तक	आवर्तक
बुनियादी शिक्षा	१००	२५
माध्यमिक शिक्षा	५०	२०
प्रौढ़ शिक्षण	७०	—
विश्वविद्यालय शिक्षण	—	५
कार्यकर्ताओं का शिक्षण	७५	५०
योग	२९५	१००

(ई) अन्वेषण:—कार्य कर्त्ताओं को तैयार करने के लिये विशिष्ट शिक्षण के संगठन में अपने आप ही एक बड़ा अनुसंधान-कार्य अन्तर्निहित रहेगा। कार्य-कर्ताओं को शिक्षित करने के लिये रक्खे गये ७५ करोड़ में से कुछ करोड़ स्वभावत: राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की कई शाखाओं में अन्वेषण पर खर्च हो जायँगे। तथापि एकमात्र खोज-सम्बन्धी कार्य के लिये ही २० करोड़ रुपया अलग से रक्खा जा सकता है।

इस योजना की समयावधि में भिन्न-भिन्न मदों पर के खर्च का कुल योग इस प्रकार होगा :—

	(करोड़ रुपयों में)	
	अनावर्तक	आवर्तक
कृषि	१,१७५	४०
देहाती उद्योग-धन्धे	३५०	—
बड़ी मात्रा के व आधार-भूत उद्योग	१,०००	—
सार्वजनिक उपयोगी कार्य्य:—		
(अ) यातायात	४००	१५
(ब) स्वास्थ्य	२६०	४५
(स) शिक्षा	२९५	१००
अन्वेषण-कार्य	२०	—
कुल योग	३,५००	२००

यह सच है कि खर्च के ये आय-व्यय-सम्बन्धी-अनुमान बहुत बड़े हौसलों से भरे हुये नहीं हैं जैसा कि दूसरी योजनाओं के हैं। लेकिन हमको भूल करके भी यह भूल नहीं जाना है कि भारत एक निर्धन देश है और हम हमारी आर्थिक योजनाओं के चित्र खींचने में पश्चिम का अनुकरण कर नहीं सकते हैं।

आमदनी के ज़रिये

ऊपर संकेत किये गये आवर्तक और अनावर्तक व्यय को इस प्रकार पूरा किया जायगा।

(१) लोगों के बचाये हुये और संचित धन में से आन्तरिक कर्ज़ के द्वारा।

(२) इस प्रयोजन के लिये 'सिक्यूरिटीज़' निकाल कर उनकी साख पर 'निर्मित द्रव्य' द्वारा।

(३) अतिरिक्त करो की आमदनी से ;

(४) सरकार द्वारा अधिकृत व्यवसायों और सार्वजनिक उपयोगिताओं की सेवाओं की आमदनी से।

अर्थ-प्रबन्ध के साधनों पर अब हम एक-एक करके विचार करें।

(१) आन्तरिक कर्ज़—भारत में संचित धन का परिमाण पुष्कल है। इसका अनुमान १,००० करोड़ रुपया का लगाया गया है। अगर इस देश में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो जाती है, तो कम से कम इन धन-राशियों के कुछ भाग का तो, आकर्षित कर लेना सम्भव हो जायगा। इसके अलावा सरकारी कर्ज़ों द्वारा लोगों की बचतों में से एक बड़ी रकम प्राप्त की जा सकती है। इस लड़ाई में धनिक वर्ग ने अतिरिक्त लाभ-कर के बावजूद मुनाफे की गहरी रकम पैदा की है। चूँकि इस योजना के अन्तर्गत बड़ी पूँजी के लगाने और साहसिक उद्योग के लिये ज़्यादा गुंजायश नहीं रहेगी, सरकार अपने अर्थ-प्रबन्ध के लिये बहुत काफ़ी संचित धन को आकर्षित कर सकेगी। यह

अनुमान लगाया जाता है कि इस तरह के सरकारी कर्ज़ों से कम से कम २००० करोड़ रुपया मिल सकता है।

२. 'निर्मित द्रव्य':—युद्ध के पश्चात् स्थापित हुई लोकप्रिय सरकार, जहाँ तक उसके आर्थिक स्थायित्व का सम्बन्ध है, लोगो का विश्वास सम्पादन करेगी। यह विश्वास राष्ट्रीय सरकार को इस प्रयोजन के लिये 'सिक्यूरिटीज़' की साख पर नया द्रव्य निर्मित कर सकने योग्य बना देगा। इस तरह से राष्ट्रीय करेन्सी की स्थिरता या स्फीति सम्बन्धी विशेष समस्याओं को जन्म दिये बिना १००० करोड़ रुपया की रकम प्राप्त की जा सकेगी।

३. कर-निर्धारण:—इस योजना की अवधि में आय-कर, अतिरिक्त-कर, कार्पोरेशन टैक्स, मृत्यु या उत्तराधिकार कर, एक न्याय संगत 'न्यूनतम' के ऊपर कृषि की आमदनियों पर टैक्स, बिक्री-कर आदि आदि की यथाक्रम (उन्नतिवादी) कर-व्यवस्था से ५०० करोड़ रुपया आसानी से मिल सकेगा।

संक्षेप में, ३५०० करोड़ का अनावर्तक खर्च निम्न साधनों द्वारा पूरा किया जायगा।

	(करोड़ रुपयों में)
आन्तरिक कर्ज़ा	२०००
'निर्मित द्रव्य'	१०००
टैक्स	५००
योग	३५००

हम संचित 'स्टर्लिङ्ग बचतों या पावनों, का आश्रय नहीं ले सकते, क्योंकि यदि ब्रिटेन भारत को अपने राजनीतिक बन्धन से मुक्त भी कर देता है, तो भी उसमें यह सद्भावना नहीं होगी कि वह इन 'पावनों' को ऐसे ढंग से चुका दे जो हमारे देश को आर्थिक समुन्नति के लिये उपयोगी हो।

इस योजना में प्रतिपादित अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्तों के अनुसार व्यापार की 'अनुकूल विषमता' पर आशा बाँधना हमारे लिये अवांछनीय होगा।

विदेशों में कर्जा लेने के सम्बन्ध में, जब तक सब के सब आन्तरिक स्रोतों को पूरी तौर पर टटोल नहीं लिया जाता है तब तक अर्थ-प्रबन्ध के इस साधन का आश्रय लेना उचित नहीं होगा।

आवर्त्तक खर्च

सरकारी स्वामित्व वाले मौलिक उद्योगों और यातायात, यात्रा-सुविधा और सिंचाई जैसी सर्वजनोपयोगी सेवाओं से प्राप्त अतिरिक्त आय २०० करोड़ रुपया के वार्षिक आवर्तक खर्च को पूरा करने के लिये अच्छी तरह से पर्याप्त होगी। इस योजना के प्रथम पाँच वर्षों में यह आमदनी अपेक्षाकृत कम हो सकती है। लेकिन उनके आगे के पाँच वर्षों में, यह निश्चित रूप से बढ़कर एक मोटी रकम बन जायगी।

'दातव्य और धार्मिक संस्थायें और उनके कोष प्रान्तो की अधिकार-सीमाओं के अन्तर्गत आते हैं। प्रेरणा और क़ानून दोनों के द्वारा यह सम्भव होना चाहिये कि इन संस्थाओं को कहा जाय कि वे अपने द्रव्यों को शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के कार्य को अग्रसर करने में लगावें। धार्मिक संस्थायें क्यों बढ़ती हैं और धनिक और निर्धनों के द्वारा क्यों समान रूप से इच्छा पूर्वक सहायता-सम्पन्न होती है, इसका एक कारण यह होता है कि इनको भेंट जिन्स के रूप में मिलती है, और इस तथ्य से राष्ट्रीय सरकार भली भाँति एक सबक सीख सकती है'*

इस योजना को अमल में लाने के लिये होने वाली अतिरिक्त आवश्यकताओं के कारण दीवानी शासन के वार्षिक व्यय के

*Harijan, 14-8-1937.

सम्बन्ध में वृद्धि होना स्वाभाविक ही होगी। लेकिन वेतनों के वर्तमान क्रमों की कटौती इस अतिरिक्त व्यय की कमी को पर्य्याप्त रूप से पूरा कर देगी।

ग्राम-पंचायतों का अर्थ-प्रबन्ध

संगठन और शासन के विकेन्द्रीकरण के साथ साथ अर्थ-प्रबन्धों में भी अधिकतम विकेन्द्रीकरण होना चाहिये। यही कारण है कि इस योजना में ग्राम-पंचायतों को शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सफ़ाई इत्यादि के समान कई आर्थिक जिम्मेवारियाँ सौंप दी गई हैं। सच पूछा जाय तो ग्राम-पंचायत सारी योजना का केन्द्र-विन्दु है। केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारो की कल्पना तो साधारण नीति का सह-सम्बन्ध प्राप्त करने की दृष्टि से ग्राम-सभाओं की सहायता और उनका मार्ग-निर्देश करने के लिये की गई है।

ग्राम-पंचायतों के आमदनी के ज़रिये होंगे :—

(अ) फ़सली चन्दा—उदाहरण के लिये, हर एक फसल में गाँव के प्रत्येक हल के पीछे ५ सेर फसली चन्दे के रूप में वसूल किया जा सकता है। जिन्स के रूप में इस तरह की अदायगी कृषकों के लिये निःसन्देह बड़ी सुविधापूर्ण है।

(आ) हस्त-श्रम—इस प्रकार के दान के प्रसंग हमें कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी मिलते हैं। सार्वजनिक सहयोग का यह एक अत्यन्त स्वाभाविक स्वरूप है। प्राचीन आर्यावर्त्त में धर्मशालायें, तालाब, कुँयें आदि ग्रामवासियों के संयुक्त स्वेच्छाप्रेरित और निःशुल्क श्रम से बनाये जाते थे। अतएव इस योजना के अन्तर्गत ग्राम-पंचायतें यह नियम बना सकती हैं कि गांव में प्रत्येक हल के पीछे मेहनत करने के ५ दिन बिना मज़दूरी लिये हुये होंगे। इससे 'रुपिया और नक़द' सम्बन्धी किसी झंझट के बिना पंचा-

यतों का काम बहुत कुछ सहल हो जायगा।

(इ) विवाह और यज्ञोपवीत संस्कार आदि सामाजिक उत्सव के अवसरों पर वैयक्तिक दान।

(ई) निर्णयाधिकार शुल्क और जुरमाना, चरागाही वसूली और कई कामों के लिये खास अबवाबों या करों के रूप में विविध प्राप्तियाँ, लेकिन ऐसे कर जिन्स के रूप में ही वसूल किये जाने चाहिये।

इस प्रकार भारतीय अर्थ व्यवस्था नीचे के सिरे से पुनर्निर्मित होगी। अतः वह स्वस्थ और स्थिर होगी।

१८

उपसंहार

यह योजना स्पष्ट लक्षित रूप से आर्थिक विकास की उन अन्य योजनाओं से भिन्न है जो देश के समक्ष उपस्थित की गई हैं इसका आधार आर्थिक पुनर्रचना के उन कतिपय आदर्शों पर स्थित है जो गांधी-विचार-धारा की विशिष्टता-पूर्ण देन है। इसीलिये इस योजना के अमल में आने और कार्यान्वित करने के लिये केवल सुयोग्य और सुघर कार्यकर्त्ताओं की ही नहीं, बल्कि नई आदर्श-व्यवस्था में सुदृढ़ और अविचल श्रद्धा रखने वाले नवयुवकों की भी आवश्यकता होगी। जीवित और आलोकित विश्वास पर्वतों को प्रकम्पित कर सकता है, उसका अभाव एक फली को भी नहीं फोड़ सकेगा।

'सादा रहन सहन और उच्च विचार' के मत में अविचलित विश्वास के साथ यह योजना इस देश में ही शान्ति और समृद्धि के युग का अवतरण नहीं कर सकेगी, बल्कि विश्व के अन्य राष्ट्रों के सन्मुख भी एक उदाहरण उपस्थित कर सकेगी।

यह दोहराना अनावश्यक है कि केन्द्र में वास्तविक राष्ट्रीय सरकार परम महत्व की है। उसके बिना सारी योजना एक व्ययसाध्य प्रदर्शन और मृगतृष्णा मात्र होगी।

भाग दूसरा

६

आर्थिक योजना

(उद्देश्य)

भारत एक निर्धन देश है जिसमें लगभग ६० प्रतिशत लोग कृषि और तत्सम्बन्धित उद्योगों में लगे हैं। देहात में रहने वाले लोग न केवल बुरी ग़रीबी मे फंसे हुए हैं बल्कि गहरे अज्ञान में भी डूबे हैं। अतएव योजना का प्रधान उद्देश्य भारतीय जन-साधारण के भौतिक एवं सांस्कृतिक दर्जे को १० वर्ष के समय के अन्दर एक 'बुनियादी जीवनमान' तक बढ़ा देना है। चूंकि इस योजना में देहाती क्षेत्रो की भलाई के लिए खास महत्व है, इस-लिए उसमें खेती और सहायक घरेलू उद्योग धन्धों के वैज्ञानिक संवर्द्धन पर सब से अधिक ज़ोर दिया गया है। किसी भी योजना में राष्ट्रीय जीवन के अन्य पहलुओं की उपेक्षा नहीं की जा सकी है। फलतः बुनियादी अथवा आधार-भूत उद्योग-धन्धों के संस्थापन पर भी यथेष्ट ध्यान दिया गया है। वास्तव में राष्ट्र के आर्थिक जीवन का कोई भी अंग छोड़ा नहीं गया है। लेकिन जैसा कि शुरू के अध्यायों में स्पष्ट कर दिया गया है, इस 'योजना' का अन्तभू त मौलिक सिद्धान्त जनता के भौतिक, नैतिक व सांस्कृतिक कल्याण का मधुर-सम्बन्ध रहा है।

बुनियादी जीवनमान

भौतिक एवं सांस्कृतिक कल्याण के एक शिष्ट और आधार-

भूत 'जीवनमान' का अर्थ कम से कम मात्रा में आराम की वस्तुओं के साथ साथ जीवन की सारी मौलिक आवश्यकताओं की उपलब्धि है। वे ये हैं—

(अ) संतुलित और स्वास्थ्यप्रद भोजन जिसमें अन्नसार, श्वेतसार, स्निग्ध पदार्थ, खनिजद्रव्य और जीवन-तत्व सम्मिलित हैं।

(ब) मौसम की विषमता से शरीर रक्षा के लिए पर्य्याप्त कपड़े।

(स) हर एक व्यक्ति के लिए १०० वर्गफुट के हिसाब से रहने का स्थान।

(द) पाठशाला मे जाने की उम्र के प्रत्येक लड़के व लड़की के लिए निःशुल्क और अनिवार्य्य बुनियादी शिक्षा; और प्रत्येक प्रौढ़ स्त्री व पुरुष के लिए पढ़ने व लिखने का कामचलाऊ ज्ञान।

(क) अस्पताली सुविधायें—यथोचित सामान से सज्जित औषधालय या अस्पताल में हरेक व्यक्ति की आसानी से पहुँच होनी चाहिए; और स्त्रियों के लिए सूतिकागृहों की पर्य्याप्त व्यवस्था होनी चाहिए।

(ख) नागरिकों के लिए सार्वजनिक उपयोगी सेवायें जैसे डाक, बेङ्किंग और बीमा की सुविधायें।

(ग) आमोद-प्रमोद के साधन विशेषतः देहातों में जैसे खेल के मैदान, लोक-नृत्य, देशी नाटच-शालायें और भजनमण्डली।

भोजन

भोजन व वस्त्र सम्बन्धी आवश्यकताओं का कुछ विस्तार में अध्ययन करना वांछनीय होगा।

यह आमतौर पर मालूम है कि भारतीय आबादी के एक बड़े अंश की खुराक अत्यन्त असंतुलित और उष्णतादायक शक्ति (कलोरिक शक्ति) में अपूर्ण है। डा० ऑकरॉयड के हिसाब से

एक प्रौढ़ के लिए ठीक ठीक संतुलित खुराक की सामग्री मोटे रूप से निम्न प्रकार है—

(प्रति-दिन के हिसाब से औंसों में)

	संतुलित भोजन	आम-असंतुलित भोजन
अनाज	१५	२०
दालें	३	१
तरकारियां		
(अ) बे-पत्तीदार	६	२
(ब) हरी पत्तीदार	४	२
स्निग्ध पदार्थ-तेलादि	२	५
फल	२	०
दूध	८	२

एक प्रौढ़ के संतुलित भोजन में लगभग २६०० उष्णताप्रद मात्रायें (कैलोरीज़) मिलेंगी जो साधारण स्वास्थ्य की स्थिरता के लिए आवश्यक हैं। डा० आकरॉयड के अनुसार आम तौर के असंतुलित भोजन मे उष्णता-प्रद मात्रायें १८०० से ज्यादा नहीं है। यह भी शायद आशावादी अनुमान है। प्रत्येक व्यक्ति की आमदनी अविश्वसनीय रूप से कम है, और पुष्टिकर व संतुलित भोजन लोगों की पहुँच के बाहर है। इसके अलावा अपने देश की वर्तमान अन्य-सामग्री राष्ट्रीय आरोग्यता के मान को क़ायम रखने के लिये पर्याप्त नहीं है। अतः एक सु-व्यवस्थित योजना और खेती के वैज्ञानिक रीति के संवर्धन की आवश्यकता है। खाद्य-सामग्री की मात्रा की वृद्धि ही पर्याप्त नहीं है; फ़सलों को उनके पौष्टिक महत्व के खास विचार के साथ व्यवस्थित करना होगा। द्रव्यार्थ या व्यवसायिक फसलों की वर्तमान प्रथा को हटा देना होगा। इनकी बजाय भू-भागों के अनुरूप इकाइयों की जरूरतों के अनुसार 'खाद्यान्न-फसलों' को

योजना बनाना आवश्यक होगा।

वस्त्र

जीवन की जरूरतों में भोजन के पश्चात कपड़ों का स्थान है। जलवायु के अनुसार भिन्न २ प्रान्तों के लिए आवश्यक कपड़े की मात्रा स्वभावतः अलग अलग होगी। सन् १९३६-३७ में, हिन्दुस्तान में रुई के कपड़ों की हर व्यक्ति पीछे खपत १५॥ गज थी। सन् १९२६ के कुछ अन्य देशों के आँकड़े निम्न प्रकार थे

(गजों में)

संयुक्तराष्ट्र अमरीका	६४
जर्मनी	३४
जापान	२१·४
मिश्र	१९·१

कांग्रेस की राष्ट्रीय योजना समिति और बम्बई योजनाकारों ने भारत की वस्त्र-विषयक आवश्यकताओ के लिए प्रत्येक व्यक्ति के लियें ३० गज कपड़े को उचित ठहराया है। किन्तु भारत जैसे निर्धन देश में जहाँ 'सम्पन्नों' और 'अकिञ्चनों' के बीच एक विचारणीय वैषम्य उपस्थित है, ऐसे औसतों का हिसाब सम्भवतः भ्रमात्मक व भ्रान्तिपूर्ण हो सकता है। इस वास्ते यह निर्दिष्ट रूप से स्पष्ट करना बेहतर होगा कि ९० प्रतिशत गाँव के लोगों के लिए कपड़े की हर व्यक्ति पीछे खपत कम से कम २० गज होनी चाहिये। यहाँ यह कहना और जरूरी है कि यह २० गज कपड़ा एक वर्ष टिकना चाहिये। यदि यह कपड़ा मान लीजिए केवल ६ महीने चलता है, तो गाँव वालों की औसत जरूरत को दुगुना कर देना होगा।

प्रति व्यक्ति आमदनी

हिन्दुस्तान की प्रति व्यक्ति आमदनी के लिये समय समय

पर अलग अलग अन्दाज़ लगाए गये हैं। इस दिशा में प्रयत्न करने वालों में दादा भाई नौरोजी सर्व प्रथम थे, और उनका प्रतिवर्ष प्रत्येक व्यक्ति की आमदनी का अन्दाज़ा २०) था। अन्तिम तख़मीना डा० वी. के. आर वी. रॉव का सन् १६३१-३२ के लिये है। उनके अनुसार अंग्रेज़ी भारत के प्रति व्यक्ति पीछे आमदनी ६५) है।

ऐसे तख़मीने हमारे सामने आर्थिक हालत का यथार्थ चित्र नहीं रखते हैं। उनमें एक ओर तो 'लखपतियों, करोड़पतियों' की कल्पनातीत आमदनियाँ; और दूसरी ओर 'लाखों करोड़ों' आदमियों की आश्चर्यजनक तुच्छ कमाइयाँ शामिल हैं। यह तो उस मनुष्य की मूर्खता के समान है जिसने नदी की औसत गहराई की माप, किनारे पर की व बीचोबीच धार की गहराइयाँ मालूम करके लगाई थी और जो उस नदी को पार करने की कोशिश में डूब मरा था। निसन्देह अमीर और ग़रीब की आमदनी का अन्तर बहुत बड़ा है। यह अनुमान लगाया जाता है कि 'राष्ट्र की सम्पूर्ण वार्षिक आय' का ३५ फ़ी सदी १ प्रतिशत लोगों के, ३३ फ़ी सदी ३२ प्रतिशत के और ३२ फ़ी सदी ६७ प्रतिशत लोगों के क़ब्जे में है। इस प्रकार प्रति व्यक्ति की आमद में वृद्धि, हिसाब की वर्त्तमान प्रणाली के अनुसार आबादी के बहुत बड़े अंश को अछूता रख, केवल धनिक वर्ग की आय की खासी तरक्की के कारण हो सक्ती है। यह वास्तविकता और सत्य के जीवित सम्पर्क से रहित कोरे रूखे आंकड़ों का जादू होगा।

प्रोफ़ेसर जे० सी० कुमारप्पा अपनी 'मध्यप्रान्त की औद्योगिक जांच समिति की रिपोर्ट (१६४२) में लिखते हैं—

'विस्तृत बुनियाद पर की गई तथा ६०६ गांवों के घेरे को लेते हुये हमारी जांच लोगों को मिलने वाली आमदनी का निम्न दर्जा साफ़ तौर से जाहिर करती है। कौशल-सम्पन्न जैसे बुनाई

में भी लोग परिवार पीछे प्रत्येक वर्ष में ५० से ७० रुपयों से अधिक कमाने के योग्य नहीं हैं। यदि कृषक की कमाई साल भर में औसतन एक दिन में एक आना के हिसाब से हो जाती है तो वह अपने आप को खुशहाल मानता है। इस प्रकार हम बिना किसी आपत्ति के यह कह सकते हैं कि इस प्रान्त में प्रति आदमी की सालाना आमदनी १२) के समीप हैं। यदि किसी को इस विवरण में, जो प्रान्त के सभी ज़िलों को लेते हुये जांच की गई भिन्न भिन्न आमदनी की बाबत आश्चर्यजनक अविरुद्धता के साथ मिली हुई सूचना का परिणाम है, अविश्वास होता है तो उसे किसी भी गांव में जाना और अपने लिए स्वयं वहाँ के लोगों की हालत देखना है।*

चूंकि मध्यप्रान्त और बरार हिन्दुस्तान का तुलना की दृष्टि से एक ग़रीब सूबा है हम इस नतीजे को ले सकते हैं कि गांवों में बसने वाली हिन्दुस्तान की ९० प्रतिशत आबादी की प्रति व्यक्ति पीछे वास्तविक आमदनी एक साल में १८ के क़रीब है। निर्विवादतः यह एक अत्यन्त ही छोटी संख्या है जिसका नतीजा है कि ग्राम-वासियों का जीवन-मान बहुत ज्यादा गिरा हुआ है, और लोग ऋण में डूबे हुये हैं। इस सम्बन्ध में अन्य देशों के 'प्रति व्यक्ति की आमदनी के आंकड़े' देना उपयोगी होगा:—

देश	वर्ष	फ़ीकस आमदनी (रुपयों मे)
संयुक्त राष्ट्र अमरीका	१९३२	१,१८६
ब्रिटेन	१९३१	१,०१३
जर्मनी	१९२५	५२०
जापान	१९२५	१७६
रूस	१९२५	१३३

*(Part 1, Volume 1, Page 6).

कम से कम ज़रूरी आमदनी

डा० आकरायड के हिसाब के अनुसार हिन्दुस्तान में ठीक संतुलित भोजन का एक आदमी पीछे माहवारी खर्च लड़ाई के पहिले की क़ीमतों में लगभग ६) रु० होगा। यह खर्च देहात में प्रतिमास लगभग ५) रु० अथवा प्रतिवर्ष ६०) हो सकता है। तीन आना गज की दर से गाँवों मे हरेक आदमी के कपड़े की खपत को २० गज के हिसाब से लगाते हुये वस्त्रों का वार्षिक खर्च ३।।।) रु० या पूरे अङ्क में ४) रु० होगा। मकान की देख भाल, औषध व्यय और अन्य मुतफ़र्रिक मद्दों पर चालू खर्च क़रीब क़रीब प्रति वर्ष प्रत्येक व्यक्ति के लिए ८) रु० आएगा। इसलिए हरेक व्यक्ति के वार्षिक खर्च का कुल जोड़ कम से कम ७२) रु० होगा। जैसा पहिले निर्देश किया जा चुका है कि देहावों की वर्तमान सालाना औसत आमदनी केवल १८) रु० है। फलतः हिन्दुस्तान की कम से कम ६० प्रतिशत आबादी की आमदनी को प्रति व्यक्ति पीछे चौगुना करना ज़रूरी होगा। यह ग्रामो को कमोवेश अवस्था में स्वयं-पूर्ण सहकारी मंडलों में संगठित करने और कृषि और सहायक धन्धो की उन्नति के लिए वैज्ञानिक ढंग पर व्यवस्था करने से ही हो सकेगा।

ग्राम-मण्डलों

शान्ति-प्रिय और लोक-तंत्रीय आधारों पर भारत का पुनर्निर्माण करने के उद्देश्य से, पुराने ज़माने की तरह स्वशासित ग्राम मंडलों या ग्राम पंचायतों को स्थापित करना वांछनीय है। ये पंचायतें आजकल के स्थानिक या ज़िला बोर्डों से जिनके पास सीमित शक्तियाँ है बहुत भिन्न रहेंगी। जहाँ तक उनके आन्तरिक प्रबन्ध का सवाल है, वे स्वतंत्र होंगी और कम से कम बुनियादी आवश्यकताओं के सम्बन्ध में जैसे भोजन, वस्त्र और इमारती

सामान के लिये यथासम्भव स्वयं-पूर्ण रहेंगी। फिर भी वे ताल्लुका, ज़िला, कमिश्नरी प्रान्त व समूचे देश से एक समान नीति व हितों के मामले में सम्बन्ध-बद्ध होंगी। ग्राम-मण्डलों में सीधी निर्वाचन पद्धति व सारे प्रौढ़ों को मत देने का अधिकार रहेगा। लेकिन ताल्लुका, ज़िला और अन्य ऊंची सभाओं के लिए परोक्ष निर्वाचन पद्धति एक आम नियम होगा। ऐसे विकेन्द्रीभूत आर्थिक व राजनैतिक इकाइयों की खूबियाँ पिछले अध्याय में पहिले ही कही गई हैं। इस प्रकार हमारी योजना का मूल आधार 'गाँव की इकाई' होगी; आर्थिक पुनर्निर्माण नीचे से ऊपर की ओर होगा, न कि ऊपर से नीचे की ओर।

उनके कर्त्तव्य

ग्राम-पंचायतों के खास २ काम ये होंगे :—

(१) गाँव के प्रतिनिधि-स्वरूप मालगुजारी का हिस्सा नियत करना और उसे इकट्ठा करना। इस विचार-विन्दु को जमीन की मिलकियत के सम्बन्ध में लिखते हुये विस्तार के साथ स्पष्ट कर दिया गया है।

(२) गांव में स्थानीय पुलिस की मदद से शान्ति व रक्षा को क़ायम रखना।

(३) स्थानिक झगड़ों में पंचो द्वारा और मैत्रीपूर्ण फ़ैसलों से न्यायीय प्रबन्ध करना—वर्त्तमान मुकद्दमेबाजी की प्रथा केवल पेचीदी व अत्यन्त खर्चीली ही नहीं है; बल्कि उसने गाँव की ईमानदारी और सद्-भावना की नींव को ही क्षति-ग्रस्त कर दिया है।

(४) बुनियादी और प्रौढ़ शिक्षा का संगठन—पाठशालायें पंचायत के प्रबन्ध के आधीन होंगी।

(५) दवाखानो, घरेलू अस्पतालों और सूतिकागृहों को

स्थापित कर चिकित्सा सम्बन्धी मदद का बन्दोबस्त करना।

(६) सफ़ाई की देख रेख तथा इमारतों, सड़कों, तालाबों, कुओं और अन्य सार्वजनिक जगहो की रक्षा।

(७) सरकारी प्रयत्न से गांव की खेती की उन्नति।

(८) पंचायत की देख रेख में साख और साखेतर सहकारी समितियों का संगठन कर गाँव के वाणिज्य, व्यवसाय और व्यापार पर नियंत्रण रखना।

(६) कच्चे माल और उपभोग्य पदार्थों की सहकारी खरीद के लिए और खेती की पैदावार और ग्रामोद्योग की वस्तुओं की सहकारी बिक्री के लिए प्रबन्ध करना।

हिन्दुस्तान के सहकारी आन्दोलन से अभीष्ट फल नहीं निकला है क्योंकि इसे ग्राम-निवासी पर ऊपर से लादा गया था और भारतभूमि पर इसकी जड़ें जम नहीं पाई थी। अपने सीमित क्षेत्र और शक्तियों के कारण विभिन्न प्रान्तों में के पंचायत क़ानूनों से भी सन्तोषजनक फल प्राप्त नहीं हुआ है। यह सत्य है कि प्राचीन ग्राम-मंडल-पद्धति के पुनर्जीवन को शनैः शनैः किन्तु स्थिरता पूर्वक बढ़ना होगा। हमको अनेक व्यवहारिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। मौजूदा जाति-भेद और व्यक्तिवाद की उन्नत अवस्था इन पंचायतों के सुचारु रूप से सम्पन्न होने के रास्ते में रोड़ा अटकाएगी। लेकिन केवल उनके पुनरुद्धार में ही भारतीय राष्ट्र की आशा और समृद्धि है।

कृषि

आर्थिक पुनर्रचना की किसी भी योजना का सबसे प्रमुख विषय कृषि की अभिवृद्धि होना चाहिये जो हिन्दुस्तानी लोगों का खास धन्धा है। इसके अलावा, कृषि और उद्योग-व्यवसाय में कोई विरोध नहीं है—वे तो एक दूसरे के परिपूरक हैं। कृषि और व्यवसाय को कमोवेश हालत मे पृथक २ स्वतंत्र विभागों के रूप में मानकर, और फिर उनके अलग अलग प्रतिशतांशों को नियत कर, एक 'संतुलित अर्थ-व्यवस्था को स्थापित करने का प्रयत्न युक्ति-संगत नहीं है। बड़ी मात्रा के आधार भूत उद्योगों को छोड़कर आर्थिक योजना का उद्देश्य 'कृषि और उद्योगों' को एक दूसरे के साथ साथ चलाकर दोनों को परिपूर्ण बनाना होना चाहिए जिससे कारखाने और घरेलू फेक्टरियाँ खेतों से लगी हुई हों। श्रम की यह 'सम्पूरकता' राष्ट्र के प्राकृतिक स्वास्थ्य के लिए ही सिर्फ हितकर नहीं है, किन्तु यह एक वास्तव में संतुलित और सुप्रभावकारी राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था को भी क़ायम करेगी।

भारत में कृषि की अभ्युन्नति करते समय निम्न बातों को ध्यान में रखना चाहिये :—

(१) समस्त जन-संख्या के लिए पर्याप्त व पुष्टिकर भोजन की व्यवस्था प्रधान लक्ष्य होना चाहिए।

(२) जलवायु और जमीन की भिन्नता के साथ साथ देश के पृथक २ हिस्सों में फसलों की योजना भी अलग २ होगी।

(३) देश को यथा सम्भव खाद्य फसलों और उद्योगों के लिए कच्चे माल के सम्बन्ध में स्वयंपूर्ण बनाना चाहिये केवल अतिरिक्त पैदावार का ही निर्यात दूसरे देशों को होना चाहिये।

(४) यातायात के साधनों पर अनुचित कार्य-भार को बचाने के लिए, खाद्य-सामग्री और कच्चे माल के विभिन्न भू-भागों को भी स्वय-पर्याप्त बनाने के लिए प्रयत्न होना चाहिये।

(५) 'व्यापारिक खेती' की वर्त्तमान प्रणाली जो स्थानिक आवश्यकताओं पर नहीं; किन्तु दूरवर्ती बाज़ारों पर निर्भर है, धीरे धीरे मिट जानी चाहिये।

(६) अधिक प्रयोगात्मक खेतों को, जो 'आदर्श खेतों' का काम भी देंगे, स्थापित कर सरकार को खोज-सम्बन्धी कार्य को अपने हाथ में संभालना चाहिये।

भोजन की कमी

डा० राधाकमल मुकर्जी के हिसाब से हिन्दुस्तान खाद्य-सामग्री के लिए एक 'घटती का देश' है। उनके अनुमान निम्न-लिखित हैं :—*

भारत की जन-संख्या-शक्ति,	१९३५	३२ करोड़ ९० लाख
भारत मे खाद्य की कमी		४१ खरब १ अरब उष्णता देयक मात्रायें ×

×'केलोराज़'

बिना भोजन रहने वाले औसत मनुष्यों की अनुमानित संख्या	४ करोड़ ८० लाख†

हाल का बंगाल दुर्भिक्ष यद्यपि नर-निर्मित था, तथापि उसने इस देश में खाद्य फसलों की उपज को बढ़ाने की परम आवश्यकता का निर्देश किया है। हिन्दुस्तान की फसलों की औसत

---

*Food planning for 400 millions 1 page 26.

†Statistical Year Book of the League of Nations, 1933 34.

उपज दूसरे देशों के आंकड़ों की तुलना में बहुत कम है :—

(प्रति एकड़ पौण्डों में)

देश	गेहूँ	चावल	गन्ना	रुई
मिश्र	१६१८	२६६८	७०३०२	५३५
जापान	१७१३	३४४४	४७५३४	१६६
संयुक्त राष्ट्र अमरीका	८१२	२१८५	४३,२७०	२६८
चीन	६८६	२४३३	—	२०४
हिन्दुस्तान	६६०	१२४०	३४६४४	८६

ज़मीन की मिलकियत और लगान

भारत की बहुत सी फसलो की औसत उर्वरा-शक्ति को बढ़ाने के लिये कुछ क्रान्तिकारी सुधार और परिवर्तन अत्यन्त आवश्यक हैं। भूमि का राष्ट्रीयकरण और ग्राम-भूमि-मिलकियत इस सुधारों में सर्व प्रथम हैं। जमीदारी प्रथा 'मंडलीक जागीरदारी पद्धति' का अत्याधिक अवशेष है और इसलिये समयोचित नहीं है। व्यक्तिशः किसानों को सीधे इक़रारनामों में बाँधकर अधिक से अधिक मालगुजारी वसूल करने के लिए हिन्दुस्तान में 'रैय्यतवाड़ी' प्रथा चलाई गई थी। फलतः 'मौजावाड़ी' बन्दोबस्त' अथवा 'ग्राम-भू-मिलकियत' पद्धति को प्रचलित करना वांछनीय होगा, जिसमें कुल लगान के भुगतान के लिए तमाम ग्राम-मण्डल सामूहिक रूप से सरकार के प्रति उत्तरदायी होता है। विभिन्न किसानों के लिए लगान का हिस्सा भी 'मंडल' द्वारा निर्धारित होगा, न कि पटवारी के द्वारा, जैसा कि आजकल है। 'रैय्यतवाड़ी' प्रथा भारत के प्राचीन ग्राम-मंडलों के विघटन का सीधा कारण थी। ग्राम-मिलकियत की प्रथा का प्रचलन एक बार फिर भारत के संगठित देहाती जीवन को पुनर्जीवित कर देगा। ग्राम पंचायतें गाँवों की जमीनों का पट्टा व्यक्तिशः किसानों को दे देंगी और लम्बे पट्टे तब तक चलते रहेंगे जब

तक कि नियत लगान नियमित रूप से अदा कर दिया जाता है। लगान और मालगुजारी के वर्तमान दरों को बहुत कुछ घटा देना होगा। लगान की बकाया उसी तरह से वसूल की जाएगी जिस तरह कि दीवानी कर्ज, किन्तु बेदखली के द्वारा नहीं। प्राचीन भारत की तरह लगानों की अदायगी, कम से कम अंशतः कुल पैदावार के षष्टमांश या अष्टमांश एक नियत भाग के रूप में जिन्स द्वारा होनी चाहिये; नक़द भुगतान द्वारा नहीं। 'जिन्स' में चुकाने की प्रथा सरकार को अवश्य असुविधाजनक होगी; किन्तु किसान की विचार दृष्टि से यह कहीं अधिक आर्थिक, न्याय्य और सुविधा पूर्ण होगी; क्योंकि लगान फसल की उपज के परिमाण की घटती बढ़ती के अनुसार बदलता हुआ रहेगा। इसके अतिरिक्त गाँव वालों को अपना लगान नकदी में चुकाने के लिए अपनी पैदावार बेचने को लाचार होते कम बार नहीं देखा जाता है। लाचारी में की गई इन बिक्रियों का प्रभाव कीमतो को गिराने के रूप में होता है, और समयान्तर से वे ही लोग उसी माल को एक बहुत ऊँची क़ीमत पर वापिस खरीदने को बाध्य होते हैं। 'जिन्स द्वारा' भुगतान खेतिहरों को बोहरों (साहूकारों) के चंगुल से भी बचा लेंगे।

ज़मीन का राष्ट्रीयकरण

'मौज़ावाड़ी' बन्दोबस्त को प्रचलित करने से ज़मीदार, ताल्लुक़दार और मालगुज़ार' ऐसे 'निर्दिष्ट स्वार्थों' का ख़ात्मा करना ज़रूरी हो जायगा। दूसरे शब्दों में, ज़मीन का राष्ट्रीय-करण करना पड़ेगा; और कृषकों और सरकार के बीच कोई 'बीचख़ोर' नहीं रहेंगे। सरकार* के द्वारा ज़मीन लम्बे पट्टों पर उनको दी जायगी 'जो वास्तव में उसको जोतेंगे।' पिता से पुत्र

*ग्राम-मण्डल।

को वह मिलती रहेगी। वह उसके अतिरिक्त, जो उसे खुद जोतने को तैयार है, हस्तान्तरित नहीं की जा सकेगी। अन्यत्रवासी ज़मीदारों को इसमें कोई स्थान न रहेगा। निसन्देह वर्तमान मालिकाना अधिकारों को धीरे धीरे हटाने के लिए परिवर्तन-अवस्था के वास्ते यथोचित समय मिलेगा। अधिकार प्राप्त व्यक्तियों को ज़मीन पर के उनके अधिकारों की पूरी परीक्षा के बाद उचित हर्जाना भी दिया जा सकता है। त्रुटि पूर्ण क़ानून अथवा कठोर सूद-ख़ोरी के कारण ज़मीन के बहुत से टुकड़े ज़मीदारों के अधिकार में चले गये हैं। इस तरह की ज़मीनों के वर्तमान मालिक किसी मुआविज़े के अधिकारी नहीं होंगे। भारी 'उत्तराधिकार टैक्स' और 'मृत्यु-कर' लगाकर भी ज़मीन का क्रमशः राष्ट्रीयकरण हो सकता है। ज़मीन-जायदाद के किसी भी उत्तराधिकार पर ऐसी ज़मीन के पूँजीगत मूल्य के ५०% से कम टैक्स नहीं लगना चाहिये। इस ढंग पर ज़मीन की व्यक्तिगत जायदाद क़रीब क़रीब दो पीढ़ियों के अन्दर स्वतः समाप्त हो जायगी।

खेतों की दूर दूर की स्थिति

समान उत्तराधिकार वाले भारतीय क़ानून के कारण हुये दूर दूर के छोटे खेत और उनके उपविभाग भारतीय कृषि की उर्वरा शक्ति को बढ़ाने के मार्ग में शायद सबसे ज़बरदस्त रोड़े हैं। ऐसे दूर दूर खेतों की हानियाँ अत्यन्त सर्वविदित होने के कारण यहाँ दुहराने की ज़रूरत नहीं है। आजकल हिन्दुस्तान के सारे भागों में 'औसत खेत' तीन ईकड़ से ज्यादा का नहीं है। १९२१ की जन-गणना की रिपोर्ट प्रति किसान पीछे ईकड-संख्या सम्बन्धी निम्न आंकड़े देती है :—

बम्बई	१२·२
पंजाब	६·२
मध्य प्रदेश, बरार	८·५
मद्रास	४·६
बंगाल	३ १
बिहार और उड़ीसा	३·१
आसाम	३·०
युक्त प्रान्त	२·५

यहाँ अन्य देशों के खेतों के 'आकार' को जान लेना बोधप्रद होगा—

संयुक्त राष्ट्र अमरीका	१४५ ईकड़
डेनमार्क	४० ,,
जर्मनी	२१·५ ,,
इंगलैंड	२०·० ,,

दूर दूर के खेतों की बुराइयों को कम करने के लिए नीचे लिखे उपाय सुझाए जाते हैं।

(१) स्वेच्छित आधार पर सहकारी समितियों द्वारा खेतों की चकबन्दी जैसा कि पंजाब, मध्यप्रदेश व बरार और बड़ौदा में हुआ है।

(२) विभिन्न छोटे २ खेतों की बीच की 'मेड़ों' को निकालकर संयुक्त खेतों की जमीन की सहकारी खेती। इसको सोविएट रूस के विशालकाय सामूहिक खेतों के साथ नहीं मिलाना चाहिये। सहकारी खेती में वैयक्तिक मालिकी और संयुक्त कृषि-इन दोनों के फायदे शामिल हैं।

(३) उत्तराधिकार की वर्तमान पद्धति में परिवर्तन। उदाहरण के लिए जमीन एक खास आकार के बाद नहीं बँटनी चाहिये। यदि यह न्यूनतम 'न्यून'–मान लो–२० ईकड़ नियत

हुआ है और इस बीस ईकड़ के मालिक के दो बेटे हैं जो जुदा होना चाहते हैं तो उनमें से एक को दूसरे भाई के हिस्से को खरीद लेना होगा। ज़मीन दस दस ईकड़ वाले दो खेतों में बांटी नहीं जा सकेगी।

(४) बेमुनाफ़े के खेत फ़िलहाल लगान की अदायगी से बरी रहेंगे।

देहातों का कर्ज़ा

दूसरा प्रश्न देहातों के कर्ज़े का पीस डालने वाला बोझ है जिस पर हमें विशेष ध्यान देने की ज़रूरत है। यद्यपि देशी साहूकार ने भारत की ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में एक महत्वपूर्ण हिस्सा लिया है तथापि उसके अपरिचित लोभ और 'अत्यन्त-सूद-लिप्सा' की अवश्य ही कड़े से कड़े शब्दों में निन्दा करनी पड़ेगी। सेन्ट्रल-बेङ्किग-इन्कारी कमेटी के अनुमानों के अनुसार, १९२९ में ब्रिटिश भारत के प्रान्तों में कुल किसानों का कर्ज़ा ९ अरब रुपयों के आसपास था। भारत के रिज़र्व बैंक के कृषि-साख-विभाग ने देहाती कर्ज़दारी का अन्दाजा १९३७ में १८ अरब के लगभग लगाया गया था। गांव के बनिए की अति-व्याज-लिप्सा के अतिरिक्त, इस कर्ज़दारी के कुछ कारण ये हैं— बेमुनाफ़ेदार खेतों की मौजूदगी, सहायक ग्रामोद्योग धन्धों की अवनति, सरकार की मालगुज़ारी नीति और फसलों की थोड़ी उपज।

यदि भारतीय कृषक को उसकी वर्तमान विपत्ति, और घोर दरिद्रता से ऊपर उठाना है तो इसलिए 'ऋण-परिशोध' परम आवश्यक है। इस दिशा में 'किसान-सहायय-क़ानून' और 'ऋण-समझौता समितियों' की स्थापना करके विभिन्न प्रान्तों में प्रयत्न किये गये हैं। किन्तु यह गंभीर प्रश्न के किनारों को छूना मात्र है। ज्यादा जोरदार और व्यापक योजना-निर्माण की आवश्य-

कता है। नीचे कुछ सुझाव पेश किए जाते हैं :—

(१) विशेष अदालतों द्वारा ऋण के सारे हिसाब किताबों की सावधानी पूर्वक सूक्ष्म जांच होनी चाहिए; झूठे अनुचित कर्जे बिना किसी अफसोस के रद्द करने होंगे। बाक़ी कर्जों को कड़ाई के साथ घटा देना होगा।

(२) दस साल से अधिक से चालू कोई भी ऋण जिस पर ब्याज नियमपूर्वक अदा होता रहा है पूर्णरूप में बेबाक समझा जाना चाहिए।

(३) ग्रामीणों के ऋण परिशोध के लिए सरकार को सम्बन्धित महाजनो को २० वर्षीय सर्कारी जमानती पत्र देकर और किसानों को संशोधित ऋणो को सुविधापूर्वक २० वार्षिक किश्तों में चुकाने के लिए कहकर उनकी सहायता करनी चाहिए।

(४) किसानो को ग्राम-पंचायतों, सहकारी-साख-समितिओं अथवा भूमि-बन्धक-बैंकों के द्वारा कम सूद वाले लम्बे-समय के कर्जों के वास्ते सुविधायें होनी चाहिये। नये कर्जों के लिये ब्याज की ज्यादा से ज्यादा दर ६ प्रतिशत से अधिक न होनी चाहिए।

(५) व्यक्तिगत महाजनी प्रथा बन्द हो जानी चाहिए। सिर्फ़ ग्राम पंचायतों, सहकारी समितियों, और भूमि-बन्धक बैंकों को इस काम को करने की इजाजत होनी चाहिए।

(६) कर्जों के बदले मे भूमि के हस्तान्तरित करने पर निश्चित पाबन्दियाँ लगा देनी चाहिए।

वर्तमान करेंसी-स्फीति और फ़सलों की ऊँची क़ीमतों के कारण स्थिति कुछ अंश में ठीक हुई मालूम देती है। फलतः किसान अपने लम्बी मुद्दत के कर्जों के कुछ अंश को अदा करने में समर्थ हुये हैं। लेकिन यह अवस्था तो अल्पकालिक है और एक लम्बी अवधि के आधार पर इस प्रश्न को सुलझाने के लिए व्यवस्थित प्रयत्न करना सदा की तरह अभी भी अत्यन्त आवश्यक है। वस्तुतः सत्य तो यह है कि कर्जदारी की समस्या

भारत की गरीबी के बड़े प्रश्न से एक अविच्छिन्न रूप से सम्बन्धित है। इसलिए कृषि की उन्नति और सहायक ग्रामोद्योगों का पुनरुज्जीवन देहाती कर्जदारी के लिये सर्वोत्तम बीमा होगा जिससे किसानों की साधारण माली हालत में सुधार होगा।

भूमि-पुनर्प्राप्ति और विलयन

'किसानी फसलों' की पैदावार को बढ़ाने के लिये कृषि योग्य बंजर भूमि को जो अनुमानतः १७ करोड़ ईकड़ है, खेती के लिए पुनः प्राप्त कर कृषि क्षेत्र को बढ़ाना जरूरी है। इन बंजर जमीनों को 'जोते जाने योग्य' बनाने में कुछ वास्तविक कठिनाइयाँ हैं। इनमें से कुछ पूंजी की न्यूनता, अस्वस्थकारी जलवायु, पर्य्याप्त एवं सस्ते यातायात का अभाव और सिंचाई की सुविधाओं की कमी है। इसलिये व्यक्तिशः किसानों पर भूमि की पुनर्प्राप्ति के कार्य्य को छोड़ना सम्भव नहीं है। यह महत्वपूर्ण काम सरकार को अपने हाथ में लेना चाहिये और उसके प्रारम्भिक व्यय के लिये जरूरी पूंजी लगानी चाहिए।

कृषि-विस्तार के अलावा जरूरी तथापि अब तक उपेक्षित समस्या—भूमि विलयन—पर विशेष ध्यान देना चाहिये। यदि इस बुराई को 'वनोन्नति-विज्ञान' और 'सम-भूमि मेड़बन्दी' द्वारा रोका नहीं जाता है तो लाखों ईकड़ जमीन सदा के लिये बरबाद हो जायगी और इस प्रकार खेती के क़ाबिल न रहेगी।

सिंचाई

विस्तारपूर्ण खेती के उन उपायों के अतिरिक्त, पहिले से खेती के अन्दर लाई गई जमीन पर भी अधिक गहरे और वैज्ञानिक ढंग से खेती की जानी चाहिये। इस मन्तव्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि सिंचाई के क्षेत्रफल को बढ़ाया जाय। १९३९-४० में, खेती किये गये कुल २४ करोड़ ४० लाख एकड़ों

के क्षेत्रफल में से, सिर्फ ५ करोड़ ४० लाख ६० हजार एकड़ों पर सिंचाई की गई थी—२·६ करोड़ नहरों के द्वारा, १ करोड़ ३० लाख ५० हजार कुओं द्वारा और ६०·५ लाख दूसरे स्रोतों द्वारा इसका मतलब यह है कि वर्तमान समय में खेती किए गये कुल क्षेत्रफल के सिर्फ़ लगभग २३ फ़ीसदी पर सिंचाई की जाती है और शेष मानसून और बरसात की अस्थिरता के सहारे छोड़ दिया जाता है। अतः इस विषय में सरकार का उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है, और इस देश में सस्ते दरों पर सिंचाई की सुविधाओं का प्रसार करने के लिए एक बड़ी रक़म खर्च करनी पड़ेगी।

कृषि-योग्यता

उपरोक्त सुधारों के अतिरिक्त बढ़ी हुई उत्पत्ति के रूप में कृषि-योग्यता निम्नांकित साधनों द्वारा प्राप्त की जा सकती है—

(१) साधारण और विशेष खाद—हमारे देश में जमीन का क्रमागत ह्रास हुआ है। यह निम्न अंक तालिका से सिद्ध है।

चावल

	बंगाल	बिहार	मध्यप्रदेश
१९३१-३२	९६१	९१२	७१८
१९४०-४१	६५२	५१९	४१९
कमी	३०९	३९३	२९९

गेहूँ

	बम्बई	बंगाल	मध्यप्रदेश
१९३१-३२	४३०	५२५	४२९
१९४०-४१	३८५	४५१	३९७
कमी	४५	७४	३२

अतः जमीन की उर्वराशक्ति को फिर से नयी करना अत्यन्त आवश्यक है। दुर्भाग्य वश, हमारे देश में किसानों के 'बाडों' में के खाद का बहुत बड़ा हिस्सा या तो कंडों के रूप में जलाया जाता है, अथवा बिना इकट्ठा किए व्यर्थ नष्ट कर दिया जाता है। ईंधन के और प्रकारों का आयोजन करके इसको बन्द करना चाहिये। गाँवों के आस पास की बंजर या ऊसर जमीनों पर जलाऊ लकड़ी के पेड़ लगाने चाहिये। नदी और नालों के किनारों पर सघन वृक्षों को लगाना आवश्वक ईंधन की पूर्ति के अलावा भूमि को क्षय होने से भी बचायगा। मवेशियों का मूत्र साधारणतः व्यर्थ जाने दिया जाता है और मनुष्य के मलमूत्रादि को खाद के रूप में काम में लाने के प्रति अभी तक भी घृणा है। ग्रामों में अगर 'खाई-रूप-पैखाना पद्धति' का प्रचलन हो जाता है, तो किसान जमीन की उर्वराशक्ति में बहुत बड़ी उन्नति कर सकेंगे। फिलहाल मरे हुये जानवरों की हड्डियों को ज्यादातर दूसरे देशों को बाहर भेज दिया जाता है और किसान उनके खाद-सम्बन्धी मूल्य से बेखबर हैं।

कृत्रिम विशेष खादों की तय्यारी पर भी सरकार को ध्यान देना चाहिये और इसे एक आधारभूत उद्योग समझना चाहिये जिस पर सरकार का अधिकार और नियंत्रण हो। लेकिन बड़ी मात्रा में कृत्रिम विशेष खादों को प्रचलित करने के पहिले ग्रामों में ही गोबर, मूत्रमलादि तथा हड्डियों से खाद बनाने की सारी सम्भावनाओं को ढूँढ निकालना जरूरी होगा।

(२) पशु-सुधार बनाम यंत्रीकरण—प्रायः हमारे सारे अर्थ-शास्त्रियों ने सुझाव दिया है कि भारत में यंत्रों द्वारा खेती करना एक अपरिहार्य्य आवश्यकता है। लेकिन 'यंत्रीय-वाष्पशक्ति' के उपयोग के फ़ायदों और प्रभावों का निर्णय करने के लिये यह ध्यान में रखना जरूरी है कि जहाँ वाष्प यंत्रों में गैर-स्थायी खर्च

अधिक और स्थायी खर्च कम है वहाँ खितेरू पशुओं के सम्बन्ध में अस्थायी खर्च नगण्य है और स्थायी खर्च काफी है। दूसरे शब्दों में वास्ययंत्र, यद्यपि वास्तव में काम करने के समय खर्चीला है, उस पर बिना काम की हालत में खर्च बहुत कम आता है. जब कि खितेरू पशुओं के ऊपर खर्च लगातार रहता है हालांकि उनके आराम करने के समय की अपेक्षा उनके काम करने के समय का खर्च कदाचित ही अधिक होता है क्योंकि चाहे वे काम पर लगे हों या नहीं उनको खिलाना पड़ता है और उनकी संभाल रखनी होती है। 'इसलिए जब थोड़े समय में बहुत ज्यादा काम करने को रहता है, वाष्ययंत्रों का उपयोग अधिक लाभप्रद है। इसके विपरीत पशुओं पर खर्च बहुत कम आता है जब कि सालभर में उपयुक्त रीति से काम बँटा रहता है।'

हिन्दुस्तान में जहाँ खेतों का आकार बहुत छोटा है यंत्रीकरण एक मितव्ययतापूर्ण कार्य नहीं होगा। अच्छे प्रकार के औजार, निसन्देह, नितान्त आवश्यक है; जब कि सहकारी कृषि प्रचलित की जाती है।

(३) गौ-रक्षा--चूँकि भारत में बड़े पैमाने पर वाष्ययंत्रों का स्तैमाल वांछनीय नहीं है यह आवश्यक है कि पशुधन की वैज्ञानिक तरीकों पर उन्नति करनी चाहिये। इस दृष्टिकोण से गाय को सरकार की पूरी २ रक्षा की जरूरत है क्योंकि भारत जैसे खेतिहर प्रदेश के यह एक आर्थिक इकाई है। यह किसान को खेती, सिंचाई और ढुलाई के लिये बैल, फ़सलों की उन्नति के लिये खाद और उसके शारीरिक कल्याण के लिये पुष्टिकर व स्वास्थ्यप्रद दूध देती है।

भैस निम्न कारणों से भारतवर्ष में एक आर्थिक इकाई नहीं हैं:--

(१) भैंस के 'पडुवें' खेती के काम के लिये क़रीब क़रीब बेकार हैं।

(२) गाय की बनिस्बत भैंस को रोग ज्यादा लगते हैं।

(३) भैंस की सार-संभाल ज्यादा रखनी होती है। वह तभी ख़ुश होती है जब उसको ख़ूब पानी वाला विस्तृत चराई का मैदान मिलता है और जो छोटे किसान के बूते के बाहर है।

भारत में गौ-रक्षा और उसकी उन्नति के लिये स्वस्थ सांड़ों की नस्ल बढ़ाना, दुग्धशालाओं का खोलना तथा-चारे की फसलें" और चरागाहों की व्यवस्था करना आर्थिक योजना के अत्यन्त महत्वपूर्ण मुद्दे हैं।

(४) बेहतरीन औज़ार—यद्यपि पश्चिमी तरीकों पर हिन्दुस्तान में यंत्रीकरण की आवश्यकता नहीं है तो भी उन्नत और सामर्थ्यवान औज़ारों की ज़रूरत पर जितना ज़ोर दिया जाय उतना थोड़ा ही है। किसान फ़िलहाल बहुत पुराने ढंग के हल व हेंगे को काम में लाता है जिनको अच्छे ढंग के औज़ारों में बदल देना निहायत ज़रूरी है।

(५) अच्छे बीज—'जैसा बोओगे, वैसा लुनोगे'-एक सुप्रसिद्ध कहावत है। यदि कृषि-फ़सलों की उन्नति करना है तो अच्छे बीजों का प्रबन्ध ज़रूरी है।

(६) कृषि-बीमा—जैसा कि आम तौर पर कई योरोपीय देशों मे है, दुष्काल, बाढ़, जलाभाव, हिमतुषार, कष्टप्रद बीमारियाँ और पशुओं के रोगों के लिये भारतीय किसान की सरकार द्वारा बीमा कराना ज़रूरी है। किसानों को अपने भाग को अदा करने की इजाज़त 'जिन्स' में होनी चाहिये। कृषि बीमाओं की ज़िम्मेदारी प्रान्तीय सरकारो पर रहनी चाहिये।

(७) सहकार—इन सबके ऊपर, भारतीय कृषि का यथोचित विकास सहकारात्मक उद्योग में है। ग्रामीणों के अन्दर 'सब प्रत्येक के लिये, और प्रत्येक सबके लिये' वाली भावना को घर कर लेना चाहिये। भारत का सहकारी आन्दोलन अब तक असफल रहा है, प्रधानतः इसलिये कि उसकी वृद्धि अन्दर से नहीं हुई है। ग्राम-मंडलों के पुनरुत्थान से, जो सहकारिता के एक आदर्श स्वरूप थे, एक बार भारतीय कृषि समृद्ध होकर रहेगी।

८

कृषि के सहायक उद्योग-धन्धे

पशु-पालन-व्यवस्था

पशु-सम्पत्ति के सम्बन्ध में भारत सबसे धनी देश है। हिन्दुस्तान के पशुओं की संख्या का कुल जोड़ (बर्मा और देशी रियासतों समेत) जैसा कि १६३५ की गणना से प्रगट है, क़रीब २ ३६ करोड़ था, उसमें बैल और भैंसा जाति की क्रमशः संख्या १६ करोड़ ८० लाख थी। पर पशुओं की किस्म बहुत खराब है जिसके फलस्वरूप उनसे प्राप्ति, खासकर दूध के विषय मे, अत्यन्त कम है। हिन्दुस्तान के पसुओं की खराब हालत के कुछ कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) चूरी-चारे की कमी—'संयुक्त खेती' अर्थात् फेर बदल के साथ वैज्ञानिक ढंग पर खाद्य और चरों की दोनों फसलों की खेती वांछनीय है। गांव के चरागाहों का भी उद्धार और विस्तार करना चाहिये।

(२) अवैज्ञानिक नस्लोत्पत्ति और स्वस्थ सांडों की कमी।

(३) पशुधन की 'उपोत्पत्ति' के रूप में सहायक धन्धों का अभाव, यथा दुग्धशाला खोलना, चमड़े को कमाना और उसकी चीजे बनानी, हड्डी का सामान बनाना आदि। अगर इन धन्धों को बढ़ाया जाता है तो पशुओं को रखना अधिक लाभदायक होगा और उनको अच्छा खाने को मिलेगा और उनकी देख भाल ज्यादा होगी।

दुग्धशाला खोलना

यह व्यवसाय भारतीय किसान की केवल आर्थिक अवस्था को ही नहीं सुधारेगा, किन्तु यथेष्ट और शुद्ध दूध की पूर्ति के प्रश्न को भी हल कर देगा। डेयरी की वस्तुओं की सालाना नक़द कीमत का अन्दाज़ा ८०० करोड़ रुपयों के ऊपर लगाया गया है। अन्य देशों की तुलना में हिन्दुस्तान अपनी दूध की उत्पत्ति की मात्रा में संयुक्तराष्ट्र अमरीका के बाद दूसरे नम्बर आता है। उसकी उत्पत्ति ब्रिटेन की उत्पत्ति से चौगुनी, डेनमार्क की से पंचगुनी और आस्ट्रेलिया की छःगुनी से ऊपर है। दूध के इस बड़े परिमाण के बावजूद इस देश के अन्दर की खपत उन सर्व देशों से, जिनके आंकड़े मिलते हैं, सबसे नीचे की गिनती में आती है।* भिन्न भिन्न देशों में फ़ी आदमी दूध की खपत के अंक नीचे दिये जाते हैं :—

(औन्सों में)

न्यूज़ीलेन्ड	५६
आस्ट्रेलिया	४५
डेनमार्क	४०
ग्रेट ब्रिटेन	३९
संयुक्तराष्ट्र अमरीका	३५
हिन्दुस्तान	७

डा० राइट के अनुमान-अंकों के अनुसार भारत में दूध का उत्पादन कुछेक सालों के अन्दर कम से कम दुगना हो जाना चाहिये।

अतएव यह आवश्यक है कि भारत के ग्रामों और नगरों में सहकारी आधार पर दुग्धशालायें खोली जानी चाहिये। गांधी

*Report on the Development of the Cattle and Dairy Industries in India by N. C. Wright.

जी के दिशा निर्देश में, अखिल भारतवर्षीय गौ-सेवा-संघ, सेवाग्राम ने हिन्दुस्तान में दूध-व्यवसाय के पुनरुद्धार और प्रसार के इस महत्वपूर्ण किन्तु कठिन काम में अपने को लगा दिया है। संघ के हिसाब के अनुसार एक आदर्श और लाभप्रद डेयरी में ५० गायें होनी चाहिये। एक गाँव के किसान एक अच्छा साँड खरीद कर और गायों के लिये एक सादा 'ओसारा' बना कर अपनी अपनी गायों को एक सहकारी डेयरी के रूप में एक साथ मिला कर रख सकते हैं। इसका प्रबन्ध बारी बारी से अवैतनिक रूप मे किया जा सकता है। दूध के अलावा, डेयरी घी, मक्खन और मलाई भी दे सकेगी। घी और दूसरी गो-रस-सामग्रियों में मिलावट के प्रश्न पर राष्ट्रीय सरकार को विशेष ध्यान देना चाहिये।

दूध की दृष्टि से, गाय को भैंस की अपेक्षा निम्न कारणों से पसन्द करना चाहिये—

१. एक भैंस एक अच्छी हिन्दुस्तानी दुधारू नस्ल की गाय की अपेक्षा औसतन एक साल पीछे तय्यार होती है।

२. ठंट अवस्था यानी दूध देना बन्द करने के समय से ब्याने तक का समय गाय की अपेक्षा तिगुने से ज्यादा है।

३. एक अच्छी गाय एक भैंस से दूध भी अधिक देगी।

४. भैंस को ठण्ड और गर्मी ज्यादा सताती है, जिसका असर दूध की उत्पत्ति में खराबी लाता है; किन्तु गाय के साथ यह बात नहीं है।

भैंस के रखने के पक्ष में सिर्फ एक चीज है कि उसके दूध में गाय की अपेक्षा प्रतिशत चिकनाई बहुत अधिक होती है, लेकिन इसमें भी एक अच्छी गाय भैंस को मात कर देती है। इसके अलावा गाय के दूध का जीवन-तत्व-मूल्य भैंस के दूध की अपेक्षा अधिक है :—

जीवनतत्व	ए०	बी०	सी०	डी०	ई०
गाय	ययय	यय	य	य	य
भैंस	ययय	य	य	य	×

इस प्रकार गाय के दूध मे भैंस के दूध से जिसमें 'ई' जीवन तत्व बिल्कुल है ही नहीं, 'बी' जीवन-तत्व भी ज्यादा है।

चमड़े को कमाना और उसकी चीजें बनाना

दूध के काम के अतिरिक्त 'प्रत्येक गाँव या गाँवों का एक समूह चप्पल, जूते, सूटकेस व अन्य चमड़े की चीजों को बनाने के लिये एक चमड़े का कारखाना खोल सकता है। गाँव के मरे हुये पशुओं की खाल व चमड़े का उपयोग इस काम में हो सकता है। यह अनुमान लगाया जाता है कि भारत में प्रत्येक वर्ष १ करोड़ ३० लाख के बराबर पशु मरते है। आजकल अपने मालिक के लिये मरा हुआ जानवर एक बोझ है जिसे हटवाने के लिये उसे कुछ खर्च करना पड़ता है। चमारों को चमड़ा पा लेने की फिक्र रहती है लेकिन शेष लाश स्थान में गन्दगी पैदा करती हुई बेकार है। इसके अलावा चमारों का चमड़ा शोधने का देशी तरीका वैज्ञानिक नहीं है। इसलिये अगर 'ग्राम-चर्मालय' वैज्ञानिक ढंग पर शुरू किए जाते हैं तो वे हमारे गाँवों में एक फ़ायदे का सहायक धन्धा का रूप ले सकते हैं। मृतक जानवरों के बालों, हड्डियों, सींगों, दाँतों, खुरों, तन्तुओं, चरबी, खून और तांतों से भी उपयोग वस्तुयें बनाई जा सकती हैं। इस दिशा में वर्धा के नालवाड़ी आश्रम का चर्मालय सफल प्रयोग करता आया है।

फलों की खेती

हिन्दुस्तान में फलों के व्यवसाय की बहुत ज्यादा उपेक्षा की गई है। जहाँ तक आँकड़े प्राप्त हैं, फलों की खेती का क्षेत्रफल लगभग २५ लाख ईकड़ है। जलवायु की भिन्नता के कारण सारे संसार को मालूम प्रायः सभी प्रकार के फलों की पैदावार हिन्दुस्तान में होती है। लेकिन फलों की खेती आज अनाड़ी और अकुशल लोगों के हाथ में है। खेती और दुग्ध-मंदिरो के साथ साथ ग्रामों में अगर बगीचे लगाए जाते हैं और उनका विस्तार होता है तो किसानों को अपने खाने के लिये न केवल ताजे फलों ही की प्राप्ति होगी किन्तु वे अपनी अल्प आमदनी में उपयुक्त वृद्धि करने में भी समर्थ हो जायँगे।

निसन्देह हमारे देश मे—विशेषकर देहातों में फलों के रक्षण और उनको डिब्बों में बन्दकर अच्छा रखने के धन्धों के लिये काफ़ी क्षेत्र है।

शाक सब्ज़ी की खेतीबाड़ी

हरी पत्तीदार और बे-पत्तीदार तरकारियों के पौष्टिक मूल्य का जितना अन्दाज़ किया जाय वह थोड़ा ही है। फ़िलहाल किसानों द्वारा तरकारियों की खेतीबाड़ी अव्यवस्थित और अवैज्ञानिक है। इसलिये तरक्की के लिये काफी गुञ्जायश है।

वन-उद्योग

वन भूमि का कुल क्षेत्रफल क़रीब ८ करोड़ ६० लाख है। यह ब्रिटिश भारत के कुल क्षेत्रफल के ७ वें हिस्से के बराबर है। भारत के जंगलात-सम्बन्धी साधनों की आर्थिक सम्भाव्यताओं की अभी तक पूर्ण रूप से खोज नहीं की गई है। वन-व्यवसाय की समुचित उन्नति के लिये कागज़ की लुगदी बनाने, तारपीन निकालने, तेल, गोंद, राल और रँगाई का सामान आदि तैयार करने के लिये व्यवस्थित अन्वेषण कार्य्य की आवश्यकता है।

६

घरेलू उद्योग-धन्धे

जैसा कि पिछले अध्यायों में पहिले ही जोर दिया जा चुका है, कम से कम, उपभोग्य पदार्थों के उद्योगों के सम्बन्ध में, ग्राम-मंडलों में अधिक से अधिक स्वयंपूर्णता की प्राप्ति भारत में राष्ट्रीय योजना का प्रधान उद्देश्य होना चाहिये। स्वयं-पर्याप्तता की इकाइयाँ, अवश्य ही, अलग अलग उद्योगों के सम्बन्ध में भिन्नता लिये हुये होंगी। कुछ मामलों में एक गाँव या एक ताल्लुका एक इकाई हो सकती है, और दूसरों में एक जिला या एक कमिश्नरी, अथवा एक पूरा प्रान्त भी एक स्वयंपूर्ण आर्थिक इकाई बन सकता है। भारत की देहात सम्बन्धी अर्थ-व्यवस्था में नीचे लिखे घरेलू उद्योग-धन्धों को प्रमुख स्थान रहेगा :—

(१) खादी—प्राचीन काल से ही कातना और बुनना भारत के राष्ट्रीय उद्योग रहे हैं। ईसा से २,००० वर्ष पूर्व के पिरामिडों में सुगंधित द्रव्यों से रक्षित शव (लाशें) बढ़िया से बढ़िया भारतीय मलमल में लपेटे हुये पाये गये हैं। कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' में कताई और बुनाई की रीति के कई विस्तृत प्रसंग मिलते हैं। भारतीय हाथ-कते और हाथ-बुने कपड़ों के नफ़ीसपन ने संसार व्यापी यश और कीर्ति प्राप्त की थी। रोम के शाही दरबारों की बेगमें अपने आप को भारतीय रेशम से सुशोभित करने में आनन्द का अनुभव करती थीं। ७३ वीं ईसवी सन् प्लिनी भारत के वस्त्र-निर्म्माण के व्यापार से सुपरिचित मालूम होता था, और उसने बंगाल की (खासकर ढाका की) मलमलों के उत्तम

बढ़ियापन की प्रशंसा की थी। फ्रेन्च यात्री टेवरनियर जिसने १७ वीं शताब्दी के द्वितीय व तृतीय चतुर्थांशों में भारत की ६ बार यात्रा की थी, अपनी 'भारत की यात्रायें' नाम की पुस्तक में हमें बताते है कि 'हिन्दुस्तान में अपने दूत-निवास से फ़ारस लौटते समय किस प्रकार मुहम्मदअली बेग़ ने बादशाह शफी को बहुमूल्य हीरों से अलंकृत एक शुतुरमुर्ग के अंडे के आकार वाले नारियल की भेंट की थी, और जब उसे खोला गया तो उसमें से ६० हाथ (३० गज) लम्बाई की और इतनी नफ़ीस मलमल की एक पगड़ी निकाली गई कि आप उस चीज़ की जो आपके हाथ में थी मुश्किल से ही शिनाख्त कर पाते।" अंग्रेजी काल के पहिले भी किसानों की आमदनी को बढ़ाने के लिये कताई और बुनाई एक अंश-कालिक काम के रूप में सर्वत्र चालू थी। किस प्रकार इरादतन् और चालाकी से इस बड़े राष्ट्रीय व्यवसाय का नाश और मूलोच्छेदन ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा किया गया—यह एक व्यथा और आहों की एक शोचनीय कहानी है। पुनः किस प्रकार कम्पनी-कर्मचारियों के अकथनीय अत्याचार ने ढाका की मलमल बुनने वालों को अपने अंगूठे काट डालने को बाध्य किया—यह भी एक ऐसी दुःखपूर्ण गाथा है जिसे यह देश कभी भूल नहीं सकता है। लेकिन राष्ट्रीय इतिहास के इन विवरणों का विस्तृत उल्लेख इस पुस्तिका के अभिप्राय के लिये असंगत होगा। इतना ही कहना पर्य्याप्त है कि अंग्रेज सौदागरो के आने के पूर्व, जो बाद में इस अभागे देश के स्वामी बन बैठे, हमारी राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में खादी के व्यवसाय का एक अभिमान पूर्ण स्थान था। आज कताई प्रायः बिलकुल ही मिट गई है। मिल के सूत का करघों द्वारा बुनना अब भी प्रचलित है। लेकिन बुनकरों का कताई की मिलों पर निर्भर रहना खतरे से भरा हुआ है। अपनी 'मिली हुई नीति'

के एक ही आघात से मिल मालिक बुनकरों को कभी भी खत्म कर सकते हैं।

गांधीजी के अथक और निरन्तर प्रयत्नों को धन्यवाद, जिनके फलस्वरूप खादी बनाने का राष्ट्रीय व्यवसाय एक बार शनैः शनैः पुनरुज्जीवित किया जा रहा है। अखिल भारतीय चर्खासंघ का कार्य्य वास्तव में बहुत उपयोगी और सराहनीय रहा है। १९४० की रिपोर्ट से प्रगट है कि १३,४५० से ऊपर गांवों में फैले हुये २,७५,००० कतैयों और बुनकरों द्वारा ९५,५१,४७८ वर्गगज खादी तय्यार की गई थी। कतयो और बुनकरों को मिली हुई कुल मजदूरी की रकम ३४,८५,६०९ रु० थी।

'लेकिन खादी प्रचार का मन्तव्य शहरी लोगों के लिये सज-धज की फैन्सी खादी मुहय्या करना ही नहीं है, जो मिल के कपड़ों से बाजी लेगी और इस प्रकार दूसरे व्यवसायो की तरह कुछ कारीगरों को काम देगी, बल्कि उसे खेती का एक पूरक 'धन्धा बनना है। उसे इस मन्तव्य की पूर्ति करने के अभिप्राय मे अपने पैरो पर खड़ा होना है, और इसका उपयोग ग्रामों में अवश्य फैलना चाहिये। जिस प्रकार गांव के लोग अपनी रोटी या अपना भात बना लेते हैं, ठीक उसी तरह अपने निजी उपयोग के लिये उन्हें अपनी खादी स्वयं तय्यार कर लेनी चाहिये। उनकी जरूरत से यदि कुछ अतिरिक्त खादी है तो वे उसे बेच सकते हैं।'*

अखिल भारतीय चर्खा-संघ ने मुझे जा तथ्य और आंकड़े दिये हैं उनसे रंचमात्र संदेह के बिना सिद्ध है कि हमारे गाँव कपड़े के बारे में केवल स्वयं परिपूर्ण ही नहीं हो सकते हैं, बल्कि शहरों के लिये अतिरिक्त खादी भी बना सकते हैं। इस हिसाब के आंकड़े निम्नलिखित हैं :—

*Economics of Khadi, page XIV of the Introduction.

हिन्दुस्तान के एक गाँव की औसत आबादी का हिसाब ५०० है। २० गज प्रतिवर्ष की दर से एक गाँव के लिये कुल १०,००० गज खादी की जरूरत होगी। एक वर्गगज कपड़ा बुनने के लिये चार 'गुण्डों' सूत चाहिये। इस हिसाब से गाँव के लिये आवश्यक कपड़ा तय्यार करने में ४०,००० गुण्डियाँ जरूरी होंगी। साधारणतया एक आदमी १६ 'काउन्ट' की एक गुण्डी का सूत तीन घंटे में कात सकता है। इसलिये सारे गाँव को सिर्फ १,२०,००० घंटे कातना होगा। यह मानते हुये कि ६ साल से नीचे के बच्चे, अशक्त, रोगग्रस्त और लूले लँगड़ों के समेत २५ प्रतिशत काम करने में असमर्थ हैं तो ३७५ निवासियों को तमाम गाँव के लिए कातना पड़ेगा। इस प्रकार एक व्यक्ति को साल भर में सिर्फ़ ३२० घण्टे कातना होगा। इसका मतलब यह है कि अगर हर एक समर्थ-शरीर व्यक्ति १ घण्टा प्रति दिन कात ले, तो वे गाँव के लिये आवश्यक कपड़ा आसानी से उत्पन्न कर सकते हैं। पर, यदि वे चाहें, तो गाँव वाले बुनियादी मदरसों के स्त्री और बच्चों को शामिल करके औसतन २ घण्टे प्रतिदिन कात सकते हैं। इस प्रकार भारत के गाँव वस्त्र के सम्बन्ध में सिर्फ स्वयं-पर्याप्त ही नहीं हो सकते, बल्कि शहरों के उपयोग के लिये अतिरिक्त कपड़ा भी पैदा कर सकते हैं।

खादी की उत्पत्ति के लिये जरूरी सामान अपेक्षाकृत बहुत सस्ता है। जहाँ तक बुनाई का सम्बन्ध है, एक बुनकर साल भर में ६००० गुँडियाँ बुन सकता है। अतएव पूरे गाँव के लिये कपड़ा बुनने में सात बुनकर काफी होंगे।

(२) कागज़ बनाना—भोजन, वस्त्र और घर के बाद आधुनिक जीवन की चौथी सबसे महत्वपूर्ण जरूरत कागज का उपयोग है। इस दृष्टि से घरेलू धन्धे के रूप में कागज बनाने के महत्व का कोई भी अनुमान अत्यधिक नहीं है। अखिल भारत

वर्षीय ग्रामोद्योग संघ कई प्रान्तो मे वैज्ञानिक तरीको पर इस व्यवसाय को पुनर्जीवित और संगठित करने की कोशिश करता रहा है। कागज बनाना एक सादा धन्धा है जिसमें थोड़े समान की जरूरत है और जो घर में बच्चों और स्त्रियों की शक्ति के अन्दर है। हाथ के बने कागज को मिल के बने कागज के मुक़ाबिले में लाने का इरादा नहीं है, लेकिन अगर यह धन्धा चलाया जाता है, तो इससे ग्रामीणों को आसानी से कुछ धन मिल सकता है। कागज बनाने के लिये नीचे दिये हुये कच्चे पदार्थों का उपयोग हो सकता है:—निकम्मी रुई और उसके चिथड़े, पटसन, अलसी के रेशे, रद्दी हुआ पाट, धान-तिनकियाँ, बाँस, केले के तने के रेशे, ईख के डंठल और उसकी छूँछ-छोइयाँ, कागज की रद्दी और घास।

(२) तेल निकालना—इस देश में तेल के कारखानों की वृद्धि के बावजूद, देशी कोल्हू या घानियाँ अभी तक अपनी स्थिति क़ायम रखने में समर्थ रही हैं। इस व्यवसाय के लिये थोड़े सामान की जरूरत है, और यदि हमारे गाँवो मे इसके उपयोग को प्रोत्साहन दिया जाय, तो यह न केवल हमारे किसानों को अपनी अल्प आमदनी को बढ़ाने योग्य ही बना सकता है, बल्कि उनको अधिक पोषक तेल भी दे सकता है। वैज्ञानिक प्रयोगों ने यह दिखला दिया है कि मिल के तेल में घानी के तेल की बनिस्बत कम जीवन-तत्व हैं। अखिल भारत-वर्षीय ग्रामोद्योग संघ ने गाँव की घानियो के कई प्रकारों मे, जो आज भिन्न-भिन्न प्रान्तों में मौजूद हैं, सुधार करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि बड़े पैमाने की उत्पत्ति के फ़ायदो के कारण मील का तेल घानी के तेल की बनिस्बत सस्ता हो सकता है, तो भी अपने रुपयों से पूँजीपतियों की जेबें भरने के बजाय, अपने निजी घानी-तेल का उपयोग करके, अपने ही गाँव के लोगों को

सहायक धन्धा दिलाना ग्रामीणों के व्यापक हित की बात है ।

अखिल भारतवर्षीय ग्रामोद्योग संघ ने 'मगन-दीप' नाम की तिली या अलसी के तेल से जलने वाली लालटेन का आविष्कार किया है । ग्रामों में देशी तेल-व्यवसाय की उन्नति के साथ साथ 'हरीकेन' लालटेनों में मिट्टी के तेल का स्तैमाल भी बन्द किया जा सकेगा ।

(४) धान से चावल निकालना—यह एक निर्णय के रूप में सिद्ध हो चुका है कि मील द्वारा साफ करने की रीति से चमकाये गये चावल में खाद्य-मूल्य बहुत कुछ कम हो जाता है । जैसा कि हिन्दुस्तान की सरकार की 'स्वास्थ्य-पत्रिका संख्या २८' में संकेत है—'मील मे कूटे हुये चावल की बाहरी पड़तें नष्ट हो जाती है जिनमें अनाज के मांडो वाले हिस्सों से अन्नसार, खानिजक्षार और जीवन-तत्व अधिक रहते हैं । खास तौर से 'बी' जीवन तत्व का कमी के परिणाम बहुत गम्भीर होते हैं । शोथजातीय (बेरी बेरी) रोग की व्यापकता प्रधानतः चमकदार चावलों में 'बी' जीवन-तत्व की कमी के कारण है । मील की मशीन से साफ किये गये चावल की अपेक्षा हाथ से कूटे हुये चावल के अन्तर्गत अन्नसार (प्रोटीन), दाह्य तात्विक पदार्थ विशेष (फास्फोरस) चूना और लौह भी अधिक मिलते हैं । इसके सिवा, जहाँ तक खुदरे विना चमक के चावल का सम्बन्ध है मील की मशीन के मुक़ाबले हाथ की कुटाई की लागत प्रायः समान है । अतएव आर्थिक दृष्टिकोण से भी धान से चावल निकालने के व्यवसाय को प्रोत्साहन देना सुसम्मत होगा ।

दुर्भाग्यवश, भारत में चावल की मीलों की उन्नत बिल्कुल चकित कर देने वाली रही है । उन्होंने जनता के स्वास्थ्य को ही क्षति नहीं पहुँचाई है, वल्कि एक बहुत बड़ी संख्या में ोगों से रोजगार छीन लिया है । इसलिये वांछनीय यह है कि सरकार

को चावल की मीलों को बन्द कर देना, या कम से कम, उनके क्षेत्र व बाजार को सख्ती के साथ सीमित कर देना चाहिये। सरकार को यह भी देखना चाहिये कि आजकल की अपेक्षा धान की मिलों द्वारा सफाई कुछ कम हो चूंकि चावल हमारे देश के लाखों लोगों का मुख्य भोजन है, सरकार इस महत्वपूर्ण प्रश्न की उपेक्षा नहीं कर सकती है। नीचे दिये अंक मेरी बात को स्पष्ट कर देंगे।*

चावल

	हाथ-कुटा-	मशीन-कुटा-	हानि प्रतिशत
फ़ास्फोरस	०·२३	०·१३	५४
चूना	०·०४३	०·०१३	७०
लौह (बंगाली किस्म)	२·२	१·०	५५

(५) दूसरे विविध घरेलू उद्योग-धन्धों में नीचे लिखे शामिल किये जायँगे :—

ईख, खजूर या ताड़फलों से गुड़ बनाना, मधु-मक्खियों का पालना, साबुन बनाना, आटा पीसना, मुर्गी पालना, बढ़ईगीरी, लोहारी-सोनारी, दियासलाई का व्यवसाय, मिट्टी के बर्तन बनाना, खिलौने बनाना, चाकू-कैंची बनाना, बांस और बेंत का काम, रस्सी बटना, खपरैल और ईंट बनाना, कॉंच का काम और चूड़ियाँ बनाना।

राष्ट्रीय सरकार को गुड़ बनाने और आटा पीसने के धन्धों की उन्नति पर विशेष ध्यान देना चाहिये। राष्ट्र की स्वास्थ्य की दृष्टि से यह वैज्ञानिक तौर पर सिद्ध हो चुका है कि गुड़ चीनी से अधिक पोषक है और हाथ से पिसे हुए आटे में चक्की से पिसे हुए आटे की अपेक्षा अधिक जीवन-तत्व होते हैं। इसलिए

*Rice published by A. I. V. I. A., Page 47.

चीनी और आटे की मिलों को सीमित और नियंत्रित करना ज़रूरी है।

यह दावा नहीं किया जाता है कि ऊपर दी गई सूची पूर्ण है। स्थानीय अवस्थाओ और आवश्यकताओ के अनुसार हमारे ग्रामों में और भी व्यवसाओं की आसानी से उन्नति की जा सकती है।

सरकारी मदद

सरकार को, घरेलू उद्योग-धन्धों के पुनरुज्जीवन को, अपने औद्योगिक कार्य-क्रम और योजना का मुख्य आधार मानना चाहिये। उसे गाँव के कारीगरों को निम्न प्रकारों से सहायता देनी चाहिये :—

(१) साख-सहकारी समितिओं के द्वारा कम ब्याज पर रुपया उधार देने की सुविधायें प्रदान करना। कारीगरों को कच्चा माल खरीदने के लिए, उससे भरने के लिए और उसे तैयार की गई चीजों को रखने के लिये द्रव्य की आवश्यकता रहती है।

(२) बुनियादी मदर्सों और प्रौढ़ शिक्षाशालाओं में उपयुक्त विशेष-व्यवसायिक शिक्षा-प्रदान करना।

(३) घरेलू धन्धों की यंत्र-सम्बन्धी योग्यता को बढ़ाने के लिये और उसके क्षेत्र को फैलाने के अभिप्राय से 'अन्वेषण-कार्यालयों' को स्थापित करना। इस तरह के अन्वेषण कार्य्य के नतीजों का लाभ ग्राम-पंचायतों द्वारा कारीगरों को मिलना चाहिये।

(४) ग्रामों में न पैदा किये जाते वाले कच्चे माल की सामूहिक खरीद का प्रबन्ध करना।

(५) सहकारी विक्रीकरण-समितिओ को अतिरिक्त माल

को लाभप्रद क़ीमतों पर क़स्बों में बेचने के लिये सहायता करना।

(६) बड़े-बड़े व्यवसायों के मुक़ाबिलों में संरक्षण।

(७) हाथ-बनी चीज़ों के लिए रेलों और जहाज़ के किरायों में रियायत।

(८) अगर आवश्यक हो तो मिलों पर टैक्स लगाकर घरेलू उद्यगों को सरकारी सहायता प्रदान करना।

१०

बुनियादी धन्धे

जैसा कि हम पहिले ही देख चुके हैं, इस योजना के अनुसार उपभोग्य पदार्थों की प्राप्ति खासकर घरेलू उद्योगों के द्वारा होगी। लेकिन आजाद हिन्दुस्तान में कुछ बुनियादी या आधार भूत व्यवसायो की समुन्नति की उपेक्षा नहीं की जायगी। बुनियादी धन्धे घरेलू कारखानों की बढ़ती और विकास को रोकेंगे नहीं; किन्तु सहायता पहुँचायेंगे। नीचे लिखे बुनियादी धन्धों पर विशेष ध्यान दिया जायगा—

(१) संरक्षण व्यवसाय‡

(१) चालक-शक्ति—जल व ताय सम्बन्धी विद्युत।

(३) खदानी, धातु-निर्माण और वनरक्षण—लौह, स्टील, कोयला, खनिज तेल और लकड़ी। इसमें कच्ची धातु की खानों का काम सम्मिलित है।

(४) मशीनरी और मशीन के औजार—विशेष कर खेती और घरेलू व्यवसायों के लिये उत्तम छोटी २ कलें।

(५) भारी इन्जीनियरी—जहाज, रेल के इंजन, मोटर गाड़ियाँ और हवाई जहाज।

(६) रासायनिक—भारी रसायन-सामग्री, विशेष खादें और बनी हुई औषधियाँ।

---

‡यद्यपि गांधी जी अटल शांतिवादी और अहिंसा में पक्का विश्वास करने वाले हैं, तथापि वे इतने व्यवहार कुशल हैं कि वे मानते हैं कि स्वतन्त्र भारत को सशस्त्र संरक्षण की आवश्यकता हो सकती है।

बिजली--बुनियादी और बड़े धन्धों के विकेन्द्रीकरण को युद्ध और बमबाजी के खतरों ने जरूरी बना दिया है। अतएव इस प्रकार के विकेन्द्रित मूलभूत उद्योगों के लिये सस्ती बिजली पैदा करना जरूरी है। इस सम्बन्ध में सोवियट रूस, जापान और चीन की मिसालें हमारे सामने हैं। बिजली कुछ कृषि-सम्बन्धी कामों और घरेलू धन्धों में भी काम में लाई जा सकती है।* लेकिन इस क्षेत्र में, देहाती बेकारी की सम्भावनाओं को दूर रखने की दृष्टि से, तथा ग्राम-मंडलों के विद्युत-शक्ति पर के अवलम्बन को कम करने के लिये—जिसका दूरवर्त्ती उत्पत्ति-स्थान उनके सीधे वश के बाहर हो--उसके उपयोग को अवश्यमेव परिमित व नियंत्रित रखना होगा।

अभी तक हिन्दुस्तान में विद्युत-शक्ति की वास्तविक सम्भावनाओं की पर्य्याप्त रूप में खोज नहीं हुई है। उसके विकास और विस्तार के लिये बहुत क्षेत्र है। निम्नलिखित आंकड़ों से हमें हमारे देश में विद्युत-शक्ति की कम उत्पत्ति का बोध होगा :--

विद्युत-शक्ति की उपज

(वाट्स् के १० लाखों में)

देश	१९३०
संयुक्त-राष्ट्र अमरीका	१,२०,०००
जर्मनी	३०,६६१
ग्रेट-ब्रिटेन	१६,६२०
जापान	१३,९५७
आस्ट्रेलिया	२,४३६
भारतवर्ष	९७६

Harijan, 22-6-1935.

यह मानना ग़लत है कि जल से उत्पन्न बिजली कोयले से पैदा की गई बिजली से सदा सस्ती है। ग्रिड प्रणाली से संचालित जल-विद्युत-शक्ति को सस्ती रखने के लिये काफी काम में लगाए रहना जरूरी है। इसके अतिरिक्त तापोत्पादक विद्युत से जल-विद्यु त सम्बन्धी यंत्रों का स्थापन केवल मँहगा ही नहीं है। बल्कि उसके निर्म्माण-कार्य में समय भी अधिक लगता है। अतएव इन दोनों प्रकार की विद्युत शक्तियों के स्तैमाल के लिये भिन्न-भिन्न स्थानों व क्षेत्रों की विशेष अवस्थाओं के अनुसार निर्णय करना होगा।

सरकारी स्वामित्व :—ग्रामोद्योग के संगठन में जो ग्रामों व शहरों को अधिकांश रूप मे उपभोग्य वस्तुयें दिया करेगा, व्यक्तिगत व सहकारी साहस और प्रेरणा को समुचित स्थान रहेगा। किन्तु इस योजना की आधारशिलाओं में से यह एक है कि सम्पूर्ण राष्ट्र के हितों मे बुनियादी और मूल उद्योगों पर सरकारी कब्जा और प्रबन्ध होगा। इन आधार भूत, उद्योगों का अभिप्राय सारे देश के लिये फायदा पहुँचाना है और इस प्रकार इनको व्यक्तिगत हाथों में छोड़ा नहीं जा सकता है और न उनको छोड़ा जाना चाहिये ही। घरेलू उद्योगों में भले ही उन पर सरकारी स्वामित्व न हो, निर्दिष्ट स्वार्थों के लिये अधिक गुंजायश नहीं होगी। अतः इस योजना के अंतरगत देशी या विदेशी पूंजी पतियों को अपने निजी स्वार्थों के लिये भारत के शोषण करने का कोई मौका कदाचित ही मिलेगा।

अवस्था-परिवर्तन का समय

अवस्था—परिवर्तन के समय में बड़े-बड़े और बुनियादी व्यवसायों के लिये सरकार की साधारण नीति नीचे लिखी होगी :—

(१) अगर बड़े-बड़े व्यवसाय-गृहों को एक दम तुरन्त खरीदना अथवा हस्तगत करना सम्भव न हो तो माल की क़ीमतों, मुनाफों, मजदूरी की शर्तें और घरेलू धन्धों की प्रतियोगिता के सम्बन्ध में कुछ काल तक उन पर कड़ा सरकारी नियंत्रण और निरीक्षण रहना चाहिये।

(२) किसी भी सूरत में व्यक्तिगत अधिकार वाले ऐसे व्यवसायों के और ज्यादा प्रसार की इजाजत नहीं दी जा सकेगी।

(३) सारे विदेशी व्यवसाय—गृह राष्ट्रीय सरकार के द्वारा धीरे-धीरे खरीद लिये जायँगे। परिवर्तन काल में सिर्फ उन कारबारों को चलने की आज्ञा दी जायगी जो अपने नीति-निर्देश और प्रबन्ध के सम्बन्ध में पूर्णतया भारतीयों के अधिकार में होंगे। अपने नामों के पीछे 'इण्डिया लिमिटेड' लगा लेने को विदेशी कम्पनियों की वर्तमान धूर्ततापूर्ण नीति से भोली जनता को और अधिक धोखे में डालने की इजाजत नहीं दी जायगी।

(४) वस्त्र, तेल, चीनी, कागज और चावल की मीलों के समान बड़े पैमाने के उपभोग्य पदार्थों को पैदा करने वाले व्यवसायो को चलते रहने दिया जायगा, बशर्ते कि वे सख्त सरकारी अनुशासन और नियंत्रण के अन्दर रहें। उसी प्रकार के घरेलू उद्योगों के साथ मुक़ाबिला करने की उन्हें इजाजत नहीं रहेगी। उनकी स्थिति भी सिर्फ तभी तक होगी जब तक कि ग्रामोद्योग इन उपभोग्य वस्तुओं को जरूरी तादाद में पैदा करने के योग्य नहीं होंगे।

११

सार्वजनिक उपयोगतायें

घरेलू और मौलिक व्यवसायों की समुन्नति के अलावा निम्नलिखित आम उपयोगिताओं पर राष्ट्रीय सरकार समुचित ध्यान देगी :—

(१) यातायात और यात्रा की सुविधायें।
(२) सार्वजनिक स्वास्थ्य और सफाई।
(३) शिक्षा
(४) बैंकिंग और बीमा
(५) अंक गणना और अन्वेषण

अब हम इनमें एक एक पर विचार करेंगे।

यातायात और यात्रा-साधन

इस शीर्षक के अन्दर हमको रेलों, सड़कों, देश के अन्दर के जलमार्गों, किनारों पर की जहाजरानी, हवाई यातायात और डाक व तार की सुविधाओ के प्रश्नों पर विचार करना होगा।

रेलें—३१ मार्च, १९४२ को रेल-मार्ग की कुल मील-संख्या निम्न प्रकार से थी—

बड़ी लाइन	२०,६४८
छोटी लाइन	१५,९६८
छोटी छोटी लायनें	३,८६०
योग	४०,४७६

यह स्वीकार करना होगा कि भारत में दूसरे देशों के मुक़ाबिले में रेल-मार्ग की मील-संख्या बिल्कुल कम है। इसके अतिरिक्त, हिन्दुस्तान में देश की देहाती आर्थिक आवश्यकताओं की यथोचित और व्यवस्थित जांच के बिना रेल-निर्म्माण का कार्य्य अस्तव्यस्त रूप से हुआ है। अभी तक हिन्दुस्तान में रेलों का मुख्य उद्देश्य देश के कच्चे माल को खींचकर और ब्रिटिश माल को सुदूरवर्ती गाँवों में ले जाकर ब्रिटेन के व्यापार को मदद पहुँचाना रहा है। इस नीति ने भारतीय व्यापार और व्यवसाय को बहुत अंश में बर्बाद कर दिया है। भेदपूर्ण और रियायती दरों के द्वारा वस्तुओं की आमद-रफ्त पर चतुरता के साथ स्वेच्छानुकूल नियंत्रण किया गया था। अधिकतम स्वयं-परिपूर्णता का लक्ष्य, जैसा कि इस योजना में दर्शाया गया है, राष्ट्रीय यातायात के काम को काफी अंश में कम कर देगा। लेकिन फिर भी देश के कुछ भागों में, रेल की सुविधाओं को बढ़ाना जरूरी होगा। राष्ट्रीय सरकार रेलों पर माल और लोगों की आमद-रफ्त को, भारतीय या विदेशी पूँजीपतियों के लिये सुविधापूर्ण बनाने के लिये नहीं, किन्तु जन-साधारण के हितो मे नियमित और नियंत्रित करेगी। रेलें घरेलू धन्धों को सस्ता कच्चा माल देकर और उनके अतिरिक्त माल की बिक्री के लिये सहूलियत प्रदान कर उनके लिये बाधक न होकर सहायक होंगी।

सड़कें:—३१ मार्च, १९३८ को देशी रियासतों समेत भारत में शहरों की सड़कों के अलावा सरकार द्वारा रक्षित सड़कों की मील-संख्या का कुल जोड़ ३४७,१३२ था। निम्नलिखित आँकड़ों से यह स्पष्ट हो जायगा कि हिन्दुस्तान में सड़कों के विस्तार को बढ़ाना वाञ्छनीय है।

प्रतिवर्ग मील सड़कों की मील-संख्या दिखाने वाला तुलनात्मक विवरण

जापान	३·००
ग्रेट ब्रिटेन	२·००
जर्मनी	१·१६
संयुक्त राष्ट्र अमरीका	१·००
अंग्रेज़ी भारत	०·१८

भारत मे सड़कों की वृद्धि अल्पाधिक रूप में बग़ैर किसी निश्चित योजना के हुई है। यही कारण है कि सड़कों और रेलों में काफी दोहरापन हुआ है, यहाँ तक कि भारत में करीब ३० प्रतिशत पक्की सड़कें रेलों के समानान्तर हैं। यह अनावश्यक दुचन्दी शायद व्यापारिक और फ़ौजी विचारों के कारण है। तथापि सत्य यह है कि भारत सरकार की सड़क-नीति में ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था की ज़रूरतों पर ध्यान नहीं दिया गया है।

अतएव इस देश में सड़कों की भावी वृद्धि ग़रीब किसान और देहाती कारीगर के आर्थिक कल्याण को बढ़ाते हुये उसके लिये मुख्यतया सहायक होनी चाहिये। इस दृष्टिकोण से गांवों को ख़ास ख़ास सड़कों से जोड़ने वाली सहायक सड़कों के निर्माण पर विशेष ध्यान देना चाहिये जिससे कि किसान को नजदीक की मंडी में अपनी पैदावार के लिये मुनाफ़े की क़ीमत मिल सके। चूँकि देहात के यातायात का मुख्य साधन बैलगाड़ी है, उनके लिये पक्की सड़कों का होना ज़रूरी नहीं है। ऐसी सड़कें लोहे के टायरों वाली (हालचढ़ी) गाड़ियों के कारण किसान को आराम देने वाली नहीं होगी। गाँव की गाड़ियों में रबर के टायर लगाने का प्रस्ताव ठीक नहीं हैं क्योंकि ग्रामीणों की दृष्टि से वह कम ख़र्च वाला नहीं है।* बढ़िया सड़कों के

---

* देखो—प्रो० कुमारप्पा का लेख—हरिजन-२-१०-३६.

उत्साह में हमको यह भी नहीं भूलना चाहिये कि देहात में गाड़ीवानी एक सहायक धन्धा है और लारियों के चलाने के लिये पक्की सड़कें बनाकर किसानों को उनकी इस पूरक आमदनी के ज़रिये से उन्हें वंचित नही करना चाहिये। प्रान्तीय या ज़िला कौन्सिल के अतिरिक्त ग्राम-पंचायतों पर ऐसी सहायक सड़कों की रक्षा के आंशिक खर्चे को बर्दाश्त करने की ज़िम्मेदारी होनी चाहिये।

देशान्तर्गत जल-मार्ग—सिचाई की ज्यादा अच्छी सुविधायें देने के लिये नहरो की संख्या मे वृद्धि के साथ, यातायात के सस्ते साधन के रूप मे इन जल-मार्गों के उपयोग को बढ़ाना और प्रोत्साहन देना होगा, और रेल की दरों को इस प्रकार नियमित करना होगा कि वे नदी व नहर के व्यापारिक आमदोरफ्त से मुकाबिला करने के काबिल न रहे। यदि यातायात के सारे साधनों पर सरकार का कब्जा और प्रबन्ध हो तो इस प्रकार की प्रतिस्पर्द्धा, निसन्देह, स्वतः विलीन हो जायगी। सरकार ने अभी तक देशान्तर्गत जलमार्गों की वृद्धि पर समुचित ध्यान नहीं दिया है क्योंकि रेलें ब्रिटिश पूँजी को लाभ के साथ लगाने के लिये अच्छा मौका देती हैं। यह तो कहने की जरूरत ही नहीं है कि जलमार्गों का उपयोग ज्यादा सस्ता और इस कारण भारतीय कृषिकारों के लिये अधिक लाभप्रद होगा।

तटीय जहाजरानी:—४००० मील के ऊपर समुद्र तट के विस्तार को लेते हुये सस्ती किनारों पर की जहाज़रानी के लिये भारत में बड़ी सम्भावनायें हैं। ऐसे यातायात को आगे बढ़ाने के लिये भारतीय जहाज-व्यवसायों के साथ आज होड़ करने वाले विदेशी जहाजी बेड़ों की कम्पनियों को हटा देना आवश्यक होगा। सरकार को, यातायात को राष्ट्र के हितों में नियमित रखने के उद्देश्य से, हिन्दुस्तानी जहाजी कम्पनियों को

भी धीरे धीरे खरीदना होगा और उन पर कब्जा रखना होगा।

तटीय जहाजरानी के अलावा हिन्दुस्तान को अपने व्यापारिक जहाजी बेड़े को भी समुन्नत बनाना चाहिये जो भूतकाल में उसका गौरव था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अभिप्रायों से यह वाँछनीय है कि हम आर्थिक यातायात के अपने निजी साधनों पर अवलम्बित रहें।

मुल्की हवाई यातायात:—युद्धोत्तर विश्व में हवाई यातायात को एक प्रमुख स्थान अवश्य मिलेगा, और उसके विस्तार को रोकने में हिन्दुस्तान समर्थ नहीं होगा। यद्यपि यातायात के साधनों के रूप में वायु-यानों का उपयोग बहुत सीमित होगा, तथापि सफ़र करने के और डाक पहुँचाने के साधनों के रूप में मे वे अधिक लोकप्रिय होंगे। वायु-यान-संचालन को, चूँकि वह सरकारी कब्जे और अधिकार में होगा, अधिकतर शहरी क्षेत्रों मे सीमित रक्खा जायगा।

डाक और तार की सुविधायें:—देश के अन्दर के यातायात के साधनों में उन्नति और वृद्धि की आवश्यकता है। इस लक्ष्य से, देहाती क्षेत्रों की जरूरतों पर विशेष ध्यान देते हुए डाक, तार और टेलीफोन की सुविधाओं को भी बढ़ाया जायगा।

सार्वजनिक स्वास्थ्य

यह सर्वसम्मत है कि भारत में स्वास्थ्य का वर्तमान स्तर बहुत नीचा है। चेचक, आन्त्रिक ज्वर, पेचिश, हैजा और मलेरिया जैसे संक्रामक रोग देशव्यापी हो रहे हैं। १९३९ मे, ६,१६५,२३४ मौतों मे १,४११,६१४ मलेरिया के कारण, ४८,१०३ चेचक के कारण, ९७,५५६ विशूचिका (हैजे) के कारण और २६०,३००पेचिश के कारण हुई थीं। क्षय-रोग फैलता जा रहा है, और उत्तरोत्तर हर साल एक भयावना प्रश्न सामने उपस्थित करता है। अपुष्टिकर भोजन के कारण तत्सम्बन्धी रोग सर्वत्र

व्याप्त है। जैसा कि एक अंग्रेज़ी पत्रकार ने हाल ही में कहा था, "भारत सचमुच 'रोग-कीटाणुओं' का स्वर्ग है।"

निम्नलिखित आंकड़ों से हमको हमारे देश के अपेक्षाकृत गिरे हुए स्वास्थ्य का बोध होगा :—

जीवन-आशा
(वर्षों में)

	मर्द	औरत
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	६०·६०	६४·५०
ग्रेट ब्रिटेन	६०·१८	६४·४०
जर्मनी	५६·८६	६२·८१
आस्ट्रेलिया	६३·४८	६७·१४
जापान	४६·६२	४६·६३
भारत	२६·६१	२६·५६

भारत में सार्वजनिक स्वास्थ्य-सुधार के तरीक़े दो स्पष्ट विभागों के अन्दर आते हैं :—

(१) रोग निरोधक उपाय जैसे सफाई, जल-व्यवस्था, गृह-निर्माण, प्रसूतिका गृह और बाल-हित के कार्य।

(२) रोग-शोधक उपचार जैसे अस्पतालों और दवाखानों के ज़रिये यथोचित औषधि-सुविधाओं की व्यवस्था।

सफ़ाई, जल-व्यवस्था और गृह-निर्माण:—'बुद्धिमान और श्रमिक वर्ग के विच्छेद से ग्रामीणों की निन्दनीय उपेक्षा हुई है और इस प्रकार हमें सुन्दर छोटे-छोटे गांवों से चिन्हित देश की बजाय गन्दे गुबरीले समूह मिलते हैं। बहुतसे गाँवो में पहुँचने का अनुभव उत्साह-वर्धक नहीं है। आस-पास की गन्दगी और अखरने वाली बदबू इतनी है कि प्रत्यक्ष ही मनुष्य अपनी आँखें मूंदना और ठूंस कर नाक बन्द करना चाहेगा।* इसलिए

*The Health of India by John B. Grant.

ग्राम-पंचायतों द्वारा ग्रामीणों को सफाई, स्वास्थ्य और स्वच्छता के साधनों की उचित शिक्षा देनी होगी। इस प्रकार का शिक्षण बुनियादी और प्रौढ़ शिक्षा का अभिन्न अंग होना चाहिये। उनमें कचरे और कूड़े-कर्कट के लिये गड्ढे खोदने की आदत डालने की शिक्षा देनी होगी। यह केवल गाँव की सफाई को ही नहीं बढ़ाएगी, बल्कि खेतों के लिये ठोस खाद भी देगी। खाई-रूप पैखानों के उपयोग को सिखाना चाहिये और उसे प्रोत्साहित करना चाहिये। शहरी क्षेत्रों में नगरपालिकाओं की सफ़ाई के स्तर में भी बहुत कुछ उन्नति की गुँजायश है।

गाँवों और शहरों दोनों में ही यथोचित जल व्यवस्था की सुविधाओं का सुधार और विस्तार करना होगा। यह अनुमान लगाया गया है कि १६३६ में ब्रिटिश भारत के १,४७१ शहरों में से केवल २५३ शहर जल-प्रबन्ध की उचित सुविधाओं का उपभोग करते थे। यह, निसन्देह, अपर्य्याप्त है। गाँवों की स्थिति और भी खराब है। पीने और धोने के दोनों कामों के लिये गन्दे तालाबों और कुओं का पानी काम में लाया जाता है। अपनी पानी की जरूरतों को पूरा करने में मवेशी और मनुष्य प्रायः समान स्थिति में हैं। फलतः भिन्न-भिन्न संक्रामक रोगों को भारी प्राणान्तक कर देना होता है।

साफ सुथरे और ज्यादा हवादार मकानों की जरूरत को टाला नहीं जा सकता है। ग्रामीणों के मार्ग-दर्शन के लिये सरकार को ग्राम-परिषदों या पंचायतों को सादे किन्तु सुविधा युक्त घरों के आदर्श या अनुकरणीय रेखा-चित्र देने चाहिये। सहकारी गृह-निर्म्माण समितियाँ इस दिशा में बहुत कुछ काम कर सकती हैं। अपनी आमदनी में तरक्की होने पर गांव के लोग अपने घरों की हालतों को सुधारने के लिये काफी खर्च बर्दाश्त करने को समर्थ हो जाएंगे।

मातृत्व और बाल-हित :—निम्नलिखित आंकड़ों से इसमें सन्देह करने के लिये कोई स्थान नहीं रह जाता है कि भारत में बच्चे बहुत ज्यादा तादाद में मरते हैं :—

(प्रति १००० पैदायशों में)

भारत	१६७
जापान	११४
कैनाडा	६१
जर्मनी	६०
ग्रेट ब्रिटेन	५३
संयुक्त राष्ट्र अमरीका	४८
आस्ट्रेलिया	३८

बाल-विवाह की प्रथा, जिससे माता की और इसलिये बालक की जीवन-शक्ति का ह्रास होता है, अंशतः इस भारी मृत्यु-सख्या का कारण-रूप है। लेकिन इसका मूल कारण निश्चित या निर्भ्रान्त रूप से जन-साधारण को कुचल देने वाली ग़रीबी है।

भारतीय मृत्यु-संख्या के सम्बन्ध मे दूसरी विलक्षणता है—बच्चा पैदा करने की उम्र वाली स्त्रियो मे अत्यधिक मौतें बहुत सी लड़कियाँ सन्तान-प्रसूति के समय में मर जाती हैं अथवा प्रसव के बाद क्षय रोग की पकड़ में आ जाती हैं।

अतएव रहन सहन के मान को ऊँचा उठाने के साधारण प्रश्न के अतिरिक्त, राष्ट्रीय सरकार के लिये गाँवों और शहरों दोनों में समरूप से बहु-संख्यक प्रसूतिका-सदनो की स्थापना करना आवश्यक होगा। इन सदनो या शालाओं में स्त्रियों को संतानधारण की कला और उसके विज्ञान के बारे में साधारण शिक्षा दी जायगी। सोविएट रूस में मातृत्व-हित-रक्षण की रीति शायद संसार भर में सर्वोत्तम है।

अखाड़े और खेल-कूद:—तथापि यह भूल नहीं जाना चाहिये कि रोग-निवारण का सबसे अच्छा तरीका राष्ट्र के साधारण स्वास्थ्य को सुधारना है। देश में सर्वत्र अनेक अखाड़े स्थापित करके ऐसा किया जाना चाहिये। स्वदेशी खेल कूदों को, जो सस्ते और स्वास्थ्यप्रद दोनो हैं, पुनर्जीवित करके प्रोत्साहन देना चाहिये।

अस्पताल और घरेलू छोटे दवाखाने:—रोग शोधक उपायो के सम्बन्ध में, शहरो मे और ज्यादा और आवश्यक साधन-सम्पन्न बेहतर अस्पतालो को, और देहातो मे घरेलू दवाखानों को स्थापित करना जरूरी होगा। इस बारे मे भी रूसी सोवियट शाशन-संघ का उदाहरण फिर स्पृहणीय है। भारत में अस्पतालों और औषधालयों की संख्या तक़रीबन सिर्फ ७००० है। व्यवसाय-रत या पेशेवर डाक्टरो की संख्या का अनुमान ४२,००० के लगभग है जिसका मतलब ९,००० आदमियो के वास्ते एक डाक्टर है। यह मीज़ान प्रायः बंगाल की आबादी के बराबर वाले ज़ापान की संख्या से कम है। यदि हम २००० की आबादी के लिये एक डाक्टर के हिसाब से भी गणना करें, तो हिन्दुस्तान को २००,००० डाक्टरो की ज़रूरत होगी। दाइयो की कुल संख्या सिर्फ ४,५०० है—यानी ८६,००० जनों के लिये १ नर्स भारत की आबादी के अष्टमांश वाले ब्रिटेन में १,०९,५०० नर्स और ६१,४२० डाक्टर है—अर्थात् ४३५ आदमियो के पीछे वहाँ १ नर्स और प्रति ७७६ आदमियों पर १ डाक्टर है।

इस प्रकार 'कार्य-निरत व्यक्तियों की शिक्षा के लिये प्रबन्ध करना एक निहायत जरूरी सवाल है, भारत की राष्ट्रीय सरकार को, देहाती क्षेत्रो की जरूरतों के सम्बन्ध के साथ, इसे गम्भीरता पूर्वक हल करना होगा। पंचायत के प्रबन्ध के आधीन और

प्रान्तीय सरकार के निरीक्षण में प्रत्येक गाँव में एक छोटा दवाखाना अवश्य होना चाहिये।

चिकित्सा-पद्धतियाँ :—भारत में औषधोपचार सम्बन्धी सुविधाओं को बढ़ाते समय, सरकार को आयुर्वेदी और यूनानी प्रणालियों के सदृश चिकित्सा के देशी तरीकों को संरक्षण देने के लिये खास ध्यान रखना चाहिये। राज्य द्वारा इन देशी पद्धतियों को, खास कर गाँवों के लिये जो ऐलोपैथिक दवाओं पर ठोस या मोटी रकम खर्च कर ही नहीं सकते, विकसित करने के लिये निरन्तर अन्वेषण-कार्य्य चलता रहना चाहिये। आयुर्वेदी और यूनानी पद्धतियों के अलावा होम्योपैथिक, बायो-केमिक और प्राकृतिक चिकित्सा प्रणालियों को भी प्रोत्साहित और समुन्नत करना चाहिये। चिकित्सा के ये तरीके सुविधाजनक और सस्ते हैं और इस कारण भारतीय अवस्थाओं के अधिक अनुरूप हैं। तथापि यह मानना पड़ेगा कि ऐलोपैथी बिल्कुल निकाली नही जा सकती, और न इसकी आवश्यकता ही है। अतएव इन सारी प्रणालियों का एक बुद्धि-संयुत साम्मिश्रण वाँछनीय होगा।

शिक्षा

१६४१ की जन-गणना के अनुसार, भारत की आबादी का केवल १२% साक्षर है। कुछ दूसरे देशों के साक्षरता के अंकये हैं:-

	वर्ष	प्रतिशत
ग्रेट ब्रिटेन	१६२१	७६·१
संयुक्त राष्ट्र अमरीका	१६२०	७४·६
कैनाडा	१६२१	७१·६
जर्मनी	१६२५	८०·५
फ्रान्स	१६२६	८०·१
जापान	१६२५	७१·७

अतएव भारत में शिक्षा के प्रसार की परम आवश्यकता के लिये किसी तर्क की जरूरत नहीं है।

इस विषय का विवेचन पाँच भागों में करना अच्छा होगा :—

१. बाल-शिक्षण
२. बुनियादी तालीम
३. माध्यमिक शिक्षा
४. विश्व-विद्यालीय शिक्षा
५. प्रौढ़ शिक्षा

बाल शिक्षण:—पूर्व-बुनियादी तालीम की स्थिति में बच्चों की शिक्षा पर हमारे देश में अभी तक बहुत कम ध्यान दिया गया है। स्वर्गीय आचार्य्य गिंजूभाई के अथक प्रयत्नों को धन्यवाद, जिनके फलस्वरूप गुजरात ही एक मात्र वह प्रान्त है जहाँ बाल-शिक्षण ने काफ़ी प्रगति की है। यद्यपि 'घर' सर्वोत्तम पाठशाला है और होना चाहिये तथापि वास्तविकता यह रहती है कि अधिकांश माता-पिता ३ से ६ वर्ष की उम्र के अपने बच्चों की शिक्षा पर यथेष्ट ध्यान देने में असमर्थ रहते हैं। इसलिये समस्त देश में 'बाल-मंदिर' स्थापित करके बाल-शिक्षण का आयोजन करना आवश्यक है। भारत जैसे गरीब देश के लिये 'मॉंटसरी' और 'किंडरगार्टन' के तरीके बहुत खर्चीले हैं। सादा किन्तु शिक्षोपयोगी सामान को सोच निकाल कर इन पद्धतियों को भारतीय अवस्थाओं के अनुकूल बना लेना सम्भव होना चाहिये।

बुनियादी तालीम:—प्राथमिक शिक्षा की आधुनिक पद्धति एक तमाशा है जिसको देहातों वाले भारत की और, इस विषय

मे, शहरी भारत की भी आवश्यकताओं को ध्यान मे लाये बगैर चलाया गया है। 'बुनियादी शिक्षा बालकों के सम्बन्ध को, चाहे वे शहरों के हो या ग्रामों के, ऐसी समस्त वस्तुओ से जोड़ देती है जो भारत मे सर्वोत्तम और स्थायी हैं। यह शरीर और मस्तिष्क दोनों का विकास करती है और बालक को अपनी मातृभूमि से, भविष्य के लिये एक गौरवपूर्ण दृष्टि के साथ, निष्ठा पूर्वक जोड़े रखती है जिसकी प्रयत्न प्राप्ति के लिये वह स्कूल में अपने जीवन के प्रारम्भ से ही अपना भाग अदा करना शुरू कर देता है।"*

शिक्षा की वर्धा योजना में लिखा है कि बुनियादी तालीम निःशुल्क और अनिवार्य्य होने के कारण ७ साल तक चलनी चाहिये और अंग्रेजी को छोड़कर एवं एक खास पेशे की शिक्षा को जोड़कर, मेट्रिक दर्जे तक प्राप्त साधारण ज्ञान इसके अन्दर सम्मिलित होना चाहिये। बालक और बालिकाओं के सर्वतो-मुखी विकास के लिये, सबकी सब शिक्षा यथासम्भव किसी मुनाफा देने वाले पेशे के द्वारा दी जानी चाहिये। दूसरे शब्दों में पेशे से-विद्यार्थी को अपने श्रम की उपज से अपनी फीस चुकाने के योग्य बनाने और साथ ही स्कूल में सीखे हुये पेशे के सहारे उसके पूर्ण व्यक्तित्व का विकास करने के दोनों कार्य्य सिद्ध होने चाहिये। विद्यार्थी के श्रम द्वारा पैदा की गई वस्तुओं की बिक्री से प्राप्त धन से जमीन, मकानात और सामान की प्राप्ति उद्दिष्ट नहीं है।‡ इसे कहने की जरूरत नहीं है कि 'कार्य्य द्वारा शिक्षा' के अपने प्रधान सिद्धान्त के सहित, वर्धा-शिक्षा-योजना की समस्त संसार के प्रमुख शिक्षा-शास्त्रियों द्वारा ताईद की गई है। यहाँ तक कि भारत सरकार ने भी हिन्दुस्तान जैसे गरीब देश

*Constructive Programme, P. 13.

‡Harijan, 2-10-1937.

के उपयुक्त जन-साधारण की शिक्षा के एकमात्र तरीके के रूप में इसे स्वीकार किया है।

बुनियादी स्कूलों का प्रबन्ध ग्राम-पंचायतों के अधिकार में रहना चाहिये। शहरों में भी बुनियादी स्कूल होंगे, यद्यपि उनके बुनियादी काम देहाती मदर्सों के कामों से भिन्न हो सकते हैं।

माध्यमिक शिक्षा:—माध्यमिक शिक्षण बुनियादी तालीम के सिलसिले का ही आगे का रूप होगा और इसमें बुनियादी मदर्सों में पहिले ही से सीखे हुऐ हुनरों में ३ साल तक उच्च व्यवहारिक ज्ञान दिया जायगा। शिक्षा विषयीय 'सह-सम्बन्ध' का निःसन्देह रूप से, माध्यमिक और उच्च श्रेणियों में भी चलेगा।

तथापि इस बात पर ज़ोर देना पड़ेगा कि माध्यमिक शिक्षा एक स्वयं-पर्याप्त इकाई बननी चाहिये, और सिर्फ कालेजों के लिये तैयारी मात्र के रूप में ही नहीं समझी जानी चाहिये।

विश्व-विद्यालय-शिक्षा:—फिलहाल भारत में १८ विश्व-विद्यालय हैं, जिनमें प्रविष्ट छात्रो की कुल संख्या १,७६,२६१ है।* 'हमारे कॉलिजों मे दी गई तथाकथित शिक्षा का विशाल परिणाम निरी व्यर्थता है, और शिक्षित वर्गों में इसका नतीजा बेकारी हुआ है। ऊपर इसके, इसने उन बालक और बालिकाओ के मानसिक और शारीरिक दोनों प्रकार के स्वास्थ्य को नष्ट कर दिया है जिन्हे कालिजों की पिसाई में से गुजरने का दुर्भाग्य प्राप्त हुआ है।"‡ अतएव उच्चतर शिक्षा की वर्तमान प्रणाली मे क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है।

विश्व-विद्यालयो की शिक्षा को, विभिन्न विषयों के उच्च कलात्मक या विशिष्ट ज्ञान और अन्वेषण-कार्य्य मे विशेष

*(जॉन-सारजेंट की रिपोर्ट—परिशिष्ट ६)

‡हरिजन ९-७-१९३८

रूप से रत रहना चाहिये। सरकारी विश्व-विद्यालयों को खास कर उन नवयुवकों को तय्यार करना चाहिये जिनकी सेवाओं की सरकार को आवश्यकता हो। उदाहरणार्थ, डाक्टरों, नर्सों, अध्यापकों, इन्जीनियरों, देहती कार्य कर्त्ताओं इत्यादि के लिये राष्ट्रीय सरकार को ट्रेनिङ्ग कालेज खोलने चाहिये। विद्या की अन्य सब शाखाओं के लिये (मनुष्यों के) व्यक्तिगत उद्योगों को प्रोत्साहित करना चाहिये। कुछ सरकारी विश्व-विद्यालयों को परीक्षाओं के अर्थ वसूल की गई फ़ीस के द्वारा स्वावलम्बी, खासकर परीक्षण-संस्थायें ही होना चाहिये।*

शिक्षण का माध्यम:—राष्ट्रीय शक्ति के विशालकाय अपव्यय को बचाने की दृष्टि से, शिक्षा की सब अवस्थाओं में शिक्षण का माध्यम अवश्यमेव मातृ भाषा होनी चाहिये। 'अँग्रेजी माध्यम ने राष्ट्र की शक्ति को सत्व-हीन कर डाला है, और इसने शिक्षतों को जनसाधारण से अलग मोड़ दिया है और एक अनावश्यक तौर पर शिक्षा को खर्चीला बना डाला है। अगर अब भी इस प्रणाली का साग्रह अनुसरण किया जाता है, तो यह स्पष्ट लक्षित है कि यह राष्ट्र की आत्मा को छीन लेगी। इसलिये जितना शीघ्र शिक्षित भारत विदेशी माध्यम के मोहक जादू से अपने आपको प्रयत्न कर मुक्त कर लेता है, उतना ही यह शिक्षितों और आम लोगों के लिये अच्छा है।' हमको आशा करनी चाहिये कि युद्धोत्तर संसार में भारत राजनीतिक स्वतंत्रता का उपभोग करेगा। दुर्भाग्यवश यदि हम अँग्रेजी शासन से मुक्त नहीं हो पाते हैं, तो भी हमें, कम से कम शिक्षण के अँग्रेजी माध्यम के अत्याचार से तो अवश्य ही मुक्त हो जाना है।

---

*हरिजन ९-७-१९३८

इस प्रश्न के विस्तृत अध्ययन के लिये पाठक को मेरी पुस्तिका 'शिक्षण का माध्यम' देखनी चाहिये।

प्रौढ़-शिक्षा :—प्रौढ़ शिक्षा के लिये तीन 'रकारों'‡ का सिखाना ही केवल पर्य्याप्त नहीं है। साक्षरता साधन है, साध्य नहीं। प्रौढ़ शिक्षा का अभिप्राय लोगों के आर्थिक एवं सांस्कृतिक दर्जे को उन्नत बनाना होना चाहिये—आर्थिक इसलिये क्योंकि रोज़ के आर्थिक जीवन मे दिलचस्पी पैदा किये बग़ैर जन-साधारण सिर्फ 'शिक्षा के लिये' ही अपनी पढ़ाई जारी न रख सकेंगे।

'शिक्षण को आर्थिक अवस्था से शुरू करना अनेक दृष्टि-कोणो से एक अच्छी अध्यायन-विद्या है। मनुष्य सबसे ज़्यादा उस समय सीखता है जब उसके स्वार्थ* अत्यन्त तीव्र होते हैं, और उसकी ज़रूरतें उसके स्वार्थों को निश्चय करती हैं।' अतएव जन-साधारण की प्रौढ़-शिक्षा में एक निश्चित आर्थिक झुकाव होना चाहिये। लोगों को किसी हुनर या पेशे द्वारा शिक्षा प्राप्तकर अपनी आर्थिक दशा को सुधारने में समर्थ होना चाहिये। बुनियादी शिक्षा की भांति प्रौढ़ों का शिक्षण भी एक लाभप्रद आर्थिक काम के द्वारा होना चाहिये। किसी विशेष हुनर के सीखने की क्रिया में प्रौढ़ तीन 'रकारों' का ज्ञान ही केवल नहीं प्राप्त करेंगे बल्कि स्वास्थ्य, स्वास्थ-विज्ञान, सफ़ाई' नागरिक अधिकार और सहकारी उद्योग के पर्य्याप्त ज्ञान को भी हृदयंगम कर लेंगे।

यह कहना तो अनावश्यक है कि व्यवहारिक भलाई के विविध विषयों का उपयोगी और सस्ता साहित्य अनाड़ी प्रौढ़ों के लिये मुहय्या करना चाहिये। इस तरह के उपयुक्त

‡पढ़ना, लिखना और साधारण हिसाब

* Masters of their own Destiny by M. M. Coady,

साहित्य के अभाव में वे फिर से निरक्षर बन बैठेंगे। राष्ट्रीय सेवा की भावना से अनुप्राणित अच्छे अध्यापकों के रखने की आवश्यकता पर कोई मतभेद नहीं हो सकता है। देशी नाटक, लोक-नृत्य, लोक-साहित्य और संगीत मंडलियों का पुनरुद्धार प्रौढ़ शिक्षा का एक अभिन्न अंग बनना चाहिये।

बैङ्किग और बीमा

भारत मे बड़े पैमाने की किसी भी आर्थिक योजना को असली रूप मे देने के लिये, विशेष कर अनेक अभिप्रायों के वास्ते दीर्घ-कालिक साख-सम्बन्धी सुविधायें जुटाने मे, एक वहुत बड़ी पूँजी की अनिवार्य्य रूप से आवश्यकता रहेगी। बेङ्किग-संगठन के विस्तार को यह जरूरी कर देगी जिसे वैयलिक हाथों में छोड़ नहीं देना चाहिये। सार्वजनिक हितों में राष्ट्रीय बेङ्किग पर सरकार का आधिपत्य और नियंत्रण होना चाहिये। चीन के 'कृषक-बेक' के ढङ्ग पर इसमे देहातों के लिये एक विशेष विभाग रहना चाहिये। आर्थिक योजना की उन्नति के साथ साथ बीमा का -खासकर कृषि-बीमा का क्षेत्र अत्यधिक हो जायगा। यह क्षेत्र व्यक्तिगत उद्योग के लिये नहीं छोड़ा जाना चाहिये, किन्तु राष्ट्र के बृहत हितों में इसका सरकार द्वारा प्रबन्ध होना जरूरी है। सरकार को वर्तमान बीमा-कम्पनियों और बेन्कों को या तो खरीद लेना होगा अथवा उनके काम पर—विशेषतः सूद की दरों और पूंजी लगाने के क्षेत्रों पर कड़ा नियंत्रण और निरीक्षण रखना होगा। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि अर्थ-विद्या-कुशल-व्यक्तियों और बेंकरों की चालभरी बाजीगरी के असहाय दर्शक रहने की अपेक्षा राष्ट्र को अपने अति आवश्यक और वास्तविक जरूरतों के अनुसार अपने घर का प्रबन्ध कर लेने के योग्य बनना चाहिये।

अंक-गणना और अन्वेषण-कार्य्य

अर्थ, विशिष्ट ज्ञान और विज्ञान विषयक उपयोगी सांख्यिक विवरण के संग्रह की वर्तमान कार्य-विधि बहुत त्रुटिपूर्ण है। उदाहरण के लिये, आन्तरिक व्यापार, फलों व शाक-सब्जी की उत्पत्ति, गोरस-भाठडार, पशु-धन और घरेलू उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में, इस समय, कोई पर्याप्त अंक-सामग्री नहीं है। वे आंकड़े जो प्राप्य हैं कुछ बहुत ज्यादा ठीक और विश्वसनीय नहीं माने जा सकते हैं। जैसा कि 'बावले-रॉबर्टसन' रिपोर्ट में संकेत किया गया है कि सांख्यिक ज्ञान की वर्तमान कार्य्य-विधि मे उन्नति की आवश्यकता अपरिहार्य है। अतएव एक 'जाँच-पड़ताल और अंक-गणना-सम्बन्धी विभाग' की स्थापना परम आवश्यक है जिसकी शाखायें सब प्रान्तो मे हों और जो राष्ट्रीय सरकार की सीधी देख-रेख मे रहे।

इसके अलावा अंक-विषयक हिसाबों की प्रचलित प्रणाली में पूर्ण परिवर्तन की जरूरत है। औसत निकालने के तरीके के लिये इतना ही कहना कम से कम है कि वह अत्यन्त भ्रामक और भ्रान्तिपूर्ण है। उदाहरण के लिये, धनवानों की एक छोटी टुकड़ी की आमदनी में दस गुनी वृद्धि कर यह 'सांख्यिक आधार' पर सिद्ध किया जा सकता है कि देश में हरेक व्यक्ति की आमदनी बढ़ गई है। किन्तु ग़रीब जनता अपनी अधम ग़रीबी में लथपथ जहाँ थी वहीं रहेगी। इसी प्रकार यह कहना सत्य का उपहास होगा कि भारत में कपड़े की खपत प्रति व्यक्ति पीछे १६ गज है। हम जानते है कि एक अल्प संख्या में मनुष्य प्रतिवर्ष सैकड़ों कपड़ा पहिनते हैं जब कि एक बड़ी तादाद में लोग नंगे या अर्ध-नग्न रहते हैं। फलतः हमारे अंक-सम्बन्धी हिसाबो को ज्यादा वास्तविक होना चाहिये और उन्हें हमारे

सामने हमारी आर्थिक अवस्थाओं के एक सच्चे चित्र को पेश करना चाहिये।

हिन्दुस्तान में अन्वेषण-कार्य का संगठन इतना अपर्याप्त है कि उससे कोई आशा नहीं रक्खी जा सकती है। राष्ट्र के लिये पक्के और ठोस आधारों पर योजना बनाने के उद्देश्य से, कृषि उद्योग, व्यापार, यातायात, व्यवसाय, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि आदि के क्षेत्रों में वैज्ञानिक और विशिष्ट अन्वेषण के लिये प्रबन्ध करना अनिवार्य है। इस 'अन्वेषण-विभाग' को भिन्न-भिन्न प्रान्तों में अपनी शाखाओं समेत राष्ट्रीय सरकार की सीधी अधीनता में काम करना चाहिये।

Printed by Gulab Chand Agarwal B Com.
at the Agarwal Press, Agra.

शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं० लि० पुस्तक प्रकाशक आगरा के—

नवीनतम प्रकाशन

आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल कृत

दो सामयिक पुस्तकें

१—भारत के आर्थिक निर्माण पर गान्धी वादी योजना

इस पुस्तक की भूमिका में महात्मा गान्धी लिखते हैः—

"आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल ने इस पुस्तक में मेरे विचार ठीक ही ठीक दिये हैं। इसमें चरखा शास्त्र का पूरा वर्णन दिया गया है जिससे कि भारत में अहिंसा से किस प्रकार उद्योगिक उन्नति हो सकती है·····················देश की गिरी हुई हालत को अध्ययन करने वाले प्रत्येक विद्यार्थी से मैं इस पुस्तक को अध्ययन करने की शिफ़ारिस करता हूँ।"

इस पुस्तक की देश के सभी प्रमुख राजनीतिज्ञों, अर्थ शास्त्रियों व समाचार-पत्रों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। मूल्य २॥)

२—शिक्षा का माध्यम

महात्मा गान्धी इस पुस्तक की भूमिका में लिखते हैं:—

"आचार्य श्रीमन्नारायण अग्रवाल की पुस्तक सामयिक है और मातृ-भाषा द्वारा उच्चतम शिक्षा दिये जाने के सम्बन्ध में जो भय और अविश्वास फैला हुआ है उसे दूर करने में सहायक होगी·········
बच्चा पहला पाठ अपनी माता से पढ़ता है। इस लिये बच्चों के मानसिक विकास के लिये उनके ऊपर मातृ-भाषा के अतिरिक्त कोई दूसरी भाषा लादना मैं मातृ-भूमि के विरुद्ध पाप समझता हूँ। मूल्य ॥।)

शिकार साहित्य के अधिकारी लेखक

प्राणों का सौदा इत्यादि के लेखक—

पं० श्रीराम शर्मा सम्पादक—"विशाल-भारत" द्वारा लिखित

"शिकार"

[सुलभ संस्करण]

भूमिका में शर्मा जी लिखते हैं

"साहसिक घटना सम्बन्धी साहित्य किसी देश के साहित्य का मुख्य अङ्ग होता है और विद्यार्थियों के लिये तो वह परमावश्यक है।

क्योंकि मन पर उत्साह और स्फूर्ति का चित्र अङ्कित करके वह चरित्र गठन में सहायक होता है।" द्वितीय संस्करण मूल्य १।)

हमारे आगामी प्रकाशन (हिन्दी)

१—गान्धी जी के साथ एक सप्ताह—लेखक लुई फिशर

प्रसिद्ध अमेरिकन पत्रकार श्री लुई फिशर की अङ्गरेजी पुस्तक A week with Gandhi by Louis Ficher का हिन्दी अनुवाद है मूल पुस्तक अमेरिका, इङ्गलैंड व भारत में भी अँग्रेजी में छप चुकी है।

२—मौलाना अबुल कलाम आज़ाद लेखक श्री महादेव देसाई, भूमिका लेखक—महात्मा गान्धी।

३—"गान्धी जी" लेखक—कार्ल हीथ।

४—स्वस्थ व अस्वस्थ अवस्था में हमारा भोजन—संसार प्रसिद्ध प्राकृतिक चिकित्सा के आचार्य श्री हैरी बैंजमिन कृत।

संयुक्त-प्रान्तीय कॉंग्रेस कमेटी के प्रधान साहित्य-रत्न श्री पं० श्रीकृष्णदत्त जी पालीवाल एम० एल० ए० सैन्ट्रल द्वारा लिखितः—

५—"हमारा स्वाधीनता संग्राम"।

६—गान्धीवाद और मार्क्सवाद।

यह पुस्तकें भी शीघ्र छप रही हैं। यह पुस्तकें राजनैतिक-क्षेत्र में क्रान्ति करने वाली हैं। हर राजनैतिक कार्यकर्ता के लिये गीता की तरह आवश्यक हैं।

Our forth-coming Publications in English

1—"Gandhi" by—Carl Heath.

2—Maulana Abul Kalam Azad, by—Mahadeo Deasi with a foreword by Mahatma Gandhi.

3—Mahatma Gandhi's Ideas by—C. F. Andrews.

राधेमोहन अग्रवाल,
मैनेजिंग डाइरेक्टर,
शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं० लि०,
हौसपिटल रोड, आगरा।